

ॐ

नमः सिद्धेभ्य

मुमुक्षुता आशोहण क्रम

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक २५४ पर पूज्य भाईश्री
शशीभाई के प्रवचन)



प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

□ प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाडी,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) ४२३२०७ / २१५१००५

□ गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,

पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़

□ श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

□ श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

तृतीयावृत्ति प्रत : प्रत : ५००, चतुर्थ आवृत्ति : प्रत : ५००

पांचवी आवृत्ति : प्रत : ५००, ३१-१२-०७ (कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी
दिन)

पृष्ठ संख्या : ८ + १४४ = १५२

लागत मूल्य : ३५/-

बिक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

मुद्रक :

पूजा इम्प्रेसन्स

भगवती ऑफसेट

प्लोट नं. १९२४-बी,

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

६, शान्तिनाथ बंगलोझ

वारडोलपूरा,

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

अहमदाबाद

भावनगर-३६४००१

फोन : ९८२५३२६२०२

फोन : (०२७८) २५६१७४९

प्रकाशकीय निवेदन (पांचवी आवृत्ति)

अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए संसारी जीवको अनेक प्रकार के धर्म-साधन अनन्तबार करने के बावजूद भी एक बार भी सच्ची मुमुक्षुता प्रगट हुई नहीं - जिससे ज्ञानदशारूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति हुई नहीं। परम 'कृपालुदेव' श्रीमद 'राजचंद्रजी'ने इस बात पर समीपवासी मुमुक्षुओं का ध्यान खींचा है। यह २५४ वाँ पत्र मुख्यरूप से मुमुक्षुता प्रगट होने के व्यवस्थित क्रम पर लिखा है - और मुमुक्षुजीव को 'ज्ञानी का मार्ग दर्शाया है तथा उस प्रकार से वर्तमान में वैसे भावी भव्य जीवों पर अनुपम उपकार किया है।

'परम कृपालुदेव' के वचनामृत में मुमुक्षुओं को विभिन्न प्रकार से मार्गदर्शन दिया है। जिससे मुमुक्षु की भूमिका में वह अत्यंत प्रयोजनभूत है। जिसके कारण ही पूज्य गुरुदेवश्री 'कानजीस्वामी' प्रत्येक प्रवचन में उनके वचनों को दोहराते थे और उनके मर्म - परमार्थिक आशय खोलते थे - इस प्रकार से आपश्री प्रत्यक्ष उपकारी थे। जो उपकार अविस्मरणीय है। यह ट्रस्ट भी पूज्य गुरुदेवश्री के आशीर्वाद से ही ३० वर्ष से सत्श्रुत का प्रकाशन करता रहा है।

संवत् २०५१ के श्रावण महीने में मुंबई (विले पार्ले) की शिबिर में इस पत्र पर स्वाध्याय हुआ था और उसकी कैसिट पर से श्री खीमजीभाई गंगर ने गुजराती भाषा में लिखकर प्रवचन किये। जिसका यह हिन्दी अनुवाद है। जो मुमुक्षुओं को उपकारी होने

से आभार उसका प्रकाशन करके हम लोगो को हर्ष हो रहा है।

इस ग्रंथ के सुंदर टाईप सेटिंग के लिये 'पूजा इम्प्रेसन्स', भावनगर के और मुद्रण कार्य के लिये मे. भगवती ओफसेट, अहमदाबाद के हम आभारी हैं।

अंततः इस पुस्तक के स्वाध्याय द्वारा 'कृपालुदेव' के आशय को ग्रहण करके, जिज्ञासु जीव सच्ची मुमुक्षुता को प्राप्त हों और निज हित साधें, ऐसी मंगल भावना।

भावनगर

दि-३१-१२-२००७

(कुंदकुंदाचार्यदेव का आचार्य
पदवी दिन)

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट

भावनगर



'कहान रत्न सरिता' पुस्तक के प्रकाशनार्थ प्राप्त
दानराशि

श्रीमती चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर ५,०००/-

बुंबई, आषाढ सुदी ८, मंगल, १९४७

**निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है;
और उससे निःसंगता प्राप्त होती है**

प्रकृतिके विस्तारसे जीवके कर्म अनंत प्रकारकी विचित्रतासे प्रवर्तन करते हैं; और इससे दोषके प्रकार भी अनंत भासित होते हैं; परन्तु सबसे बड़ा दोष यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न ही न हो, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न न हो।

प्रायः मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्ममतमें होता है, और उससे वह धर्ममतके अनुसार प्रवर्तन करता है ऐसा मानता है; परन्तु इसका नाम 'मुमुक्षुता' नहीं है।

'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकारकी मोहसक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षके लिये ही यत्न करना और 'तीव्र मुमुक्षुता' यह है कि अनन्य प्रेमसे मोक्षके मार्गमें प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।

'तीव्र मुमुक्षुता' के विषयमें यहाँ कहना नहीं है परन्तु 'मुमुक्षुता' के विषयमें कहना है, कि वह उत्पन्न होनेका लक्षण अपने दोष देखनेमें अपक्षपातता है और उससे स्वच्छंदका नाश होता है।

स्वच्छंदकी जहाँ थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है।

स्वच्छंद जहाँ प्रायः दब गया है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति'

को रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं, ऐसा हम जानते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा^१, परम दीनताकी न्यूनता और पदार्थका अनिर्णय।

इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे। इससे पदार्थका अनिर्णय।

इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे। इससे पहले इन्हीं कारणोंको अधिकतासे कहते हैं।

'इन लोककी अल्प भी सुखेच्छा' यह प्रायः तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेसे पहले होती है। उसके होनेके कारण ये हैं - निःशंकतासे यह 'सत्' है ऐसा दृढ़ नहीं हुआ है, अथवा यह 'परमानन्दरूप' ही है ऐसा भी निश्चय नहीं है; अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कितने ही आनंदका अनुभव होता है, इससे बाह्यसाताके कारण भी कितनी ही बार प्रिय लगते हैं (!) और इससे इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक जाती है।

^२सत्पुरुषमें ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परम धर्म

१. पाठान्तर - परम विनयकी न्यूनता।

२. पाठान्तर - तथारूप पहचान होनेपर सद्गुरुमें परमेश्वरबुद्धि रखकर उनकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना इसे 'परम विनय' कहा है। इससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह परम विनय जब तक नहीं आती तब तक जीवमें योग्यता नहीं आती।

कहा है; और यह बुद्धि परम दीनताको सूचित करती है, जिससे सर्व प्राणियोंके प्रति अपना दासत्व माना जाता है और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह 'परम दीनता' जब तक आवरित रही है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबन्धयुक्त होती है।

कदाचित् ये दोनों प्राप्त हो गये हों तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है, और मिथ्या समता आती है; कल्पित पदार्थमें 'सत्' की मान्यता होती है; जिससे कालक्रमसे अपूर्व पदार्थमें परम प्रेम नहीं आता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

ये तीनों कारण प्रायः हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। मात्र दूसरे कारणकी कुछ न्यूनता किसी-किसीमें देखी है, और यदि उनमें सर्व प्रकारसे (परम दीनताकी कमीको) न्यूनता होनेका प्रयत्न हो तो वे योग्यताको प्राप्त होते हैं ऐसा जानते हैं। परम दीनता इन तीनोंमें बलवान साधन है; और इन तीनोंका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण है।

अधिक क्या कहें ? अनंत कालमें यही मार्ग है।

पहले और तीसरे कारणको दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करना^२ और महात्माके योगसे उनके अलौकिक स्वरूपको पहचानना। पहचाननेकी परम तीव्रता रखना, तो पहचाना जायेगा। मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।

महात्मामें जिसे दृढ़ निश्चय होता है, उसे मोहासक्ति दूर होकर पदार्थका निर्णय होता है। उससे व्याकुलता मिटती है। उससे निःशंकता आती है जिससे जीव सर्व प्रकारके दुःखोंसे निर्भय हो जाता है और उसीसे निःसंगता उत्पन्न होती है, और ऐसा योग्य है।

मात्र आप सब मुमुक्षुओंके लिये यह अति संक्षिप्त लिखा है; इसका परस्पर विचार करके विस्तार करना और इस समझना ऐसा हम कहते हैं।

हमने इसमें बहुत गूढ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है।

आप वारंवार विचार कीजिये। योग्यता होगी तो हमारे समागममें इस बातका विस्तारसे विचार बतायेंगे।

अभी हमारे समागमका संभव तो नहीं है; परन्तु शायद श्रावण वदीमें करें तो हो; परन्तु वह कहाँ होगा उसका अभी तक विचार नहीं किया है।

कलियुग है, इसलिये क्षण भर भी वस्तु विचारके बिना नहीं रहना यह महात्माओंकी शिक्षा है।

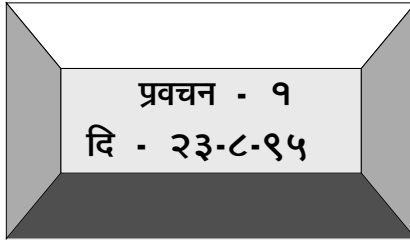


ॐ

परमात्मने नमः



मुमुक्षुता आरोहण क्रम



परम पू. भाईश्री,

इस देहधारी का चरणस्पर्श स्वीकारियेगा,

ता. २३-८-१९९५ से २९-८-१९९५ तक पर्युषणपर्वमें मुंबई पार्ला (पूर्व) में आपश्रीने हमारे ऊपर अनन्त उपकार करके 'श्रीमद् राजचन्द्र' वचनामृत पत्रांक नं. २५४का स्वाध्याय कराया था। स्व-पर कल्याणार्थ उन सातों कैसिटों को शब्दशः उतारा है, जिसका स्वीकार करके मुझे कृतार्थ कीजियेगा। अज्ञानता और प्रमादवश जो भूलचूक हुई हो उन्हें क्षमा करने की विनंती है। (उतारनेवाला सेवक खीमजीभाई गंगर)

'कृपालु देव' पत्र के अंतिम भाग में लिखते हैं कि 'हमने इसमें बहुत गूढ़ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है' ऐसा एक वचन लिखा है। 'हमने इसमें बहुत गूढ़ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है' माने क्या ? शास्त्र का रहस्य मुमुक्षु जीव के लिये क्या है ? कैसा है ? वह रहस्य हमने इस पत्र के अन्दर प्रतिपादित किया है। आप बारम्बार विचार कीजियेगा। खाली पढ़ने तक मत रखियेगा। (परन्तु) बारम्बार विचारियेगा। मैंने आप मुमुक्षुओं के लिए अति संक्षिप्त में लिखा है। इसका परस्पर विचार करके विस्तार कीजियेगा। क्या आज्ञा है उनकी ? यह पत्र हमने संक्षेप में लिखा है। संक्षिप्त लिखा है परन्तु इसका जो विषय है उस सम्बन्धी परस्पर विचार करके विस्तार कीजियेगा। यानी कि इसमें मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसकी गहराई में जाने का प्रयत्न कीजियेगा। पत्र में तो मर्यादा होती है। यह कोई ग्रन्थ नहीं है। पत्र यह कोई ग्रन्थ नहीं है। पत्र तो पत्र है। और विषय ऐसा है कि जिसके ऊपर ग्रन्थ लिखा जा सकता है, ऐसा विषय है। तो आपको इसका विस्तार करना जरूरी है। ऐसी स्पष्ट आज्ञा की है। विस्तार करके उसको समझना, ऐसा हमारा कहना है। यह उनकी स्पष्ट आज्ञा है। इसलिए इस विषय पर इस पत्र के द्वारा 'कृपालुदेव' जो कुछ कहना चाहते हैं उसको विस्तारपूर्वक समझनेका इन दिनोंमें (पर्युषण पर्व १९९५ वि. सं. २०५१ मुंबई - पार्ला (पूर्व) में आयोजित स्वाध्यायमाला) प्रयास करेंगे।

पत्र का शीर्षक ही इस पत्र का सारांश है। जीवमें मुमुक्षुता का प्रारम्भ हो, यह मुमुक्षुता जधन्य कोटिमें से उत्तम मुमुक्षुता धारण करे। और यह उत्तम मुमुक्षुता सम्यक्दर्शन के समीप की भूमिका होती है। इसलिए 'कृपालुदेव'ने प्रारम्भ से लेकर पदार्थ निर्णय तक

के विषय को इसमें संकलीत किया है। पदार्थ निर्णय माने ? पदार्थ यानी आत्मपदार्थ, आत्मस्वभाव, आत्मस्वरूप - यह स्वरूप का निर्णय है। यह सम्यक्दर्शन के सन्मुखकी भूमिका है। समयसार जैसे महान् परमागम में भी इस विषय का संकेत मिलता है। समयसार की १४४ वीं गाथा है, इसमें सम्यक्दर्शन होता है तब, ज्ञान में कैसे परिणाम होते हैं ? मतिज्ञानके श्रुतज्ञान के - इनका सूक्ष्म वर्णन, तात्त्विक वर्णन किया हुआ है। तब वहाँ भी टीकाकार आचार्यदेव पदार्थ निर्णय / स्वरूप निश्चय का उल्लेख करते हैं। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान - यह एक कार्य हैं। और इस कार्य का कोई कारण होता है। इस कारण का उल्लेख भी वहाँ किया हुआ है, (कि)

‘प्रथम श्रुतज्ञानद्वारा ज्ञान स्वभावी आत्मा का निश्चय करना।’ ‘कृपालुदेवने सम्यक्दर्शन के पूर्व भूमिका की एक सीधी-सादी स्पष्ट मार्गदर्शिका जैसी एक बात लिखी है, यह पत्रांक ७५९ में लिखी है। ७५९ के अन्दर भी उन्होंने इस स्वरूप निश्चय को दूसरा समकित कहा है। यद्यपि वहाँ स्पष्ट किया हुआ है। समकित का कारण होने के कारण, कारण में कार्य का उपचार करके, आरोप करके, हम इसको भी समकित कहते हैं। और यह समकित वीतराग का मान्य किया हुआ है, आदर करने योग्य है, उपासने लायक है एवं भक्ति करने के लायक है। यह बात ७५९ में भी स्पष्टपने की हुई है। उसके अलावा व्याख्यानसार ९में २२० नम्बर वचनामृत है, जिसमें पदार्थ के निर्णय को अस्तित्वग्रहण बतलाया है। और यह अस्तित्व ग्रहण अर्थात् पदार्थ निर्णय है जो सम्यक्त्व का अंगभूत है - ऐसा लिया है। ‘अंग’ कहा है। ‘कारण’ शब्द वहाँ कम पडा है। अतः ‘अंग’ - सम्यक्दर्शन का अंग है, वह

मुमुक्षु की भूमिका की उत्कृष्ट दशा है और वहाँ से जीव सम्यक्सन्मुख होता है और बहुत थोड़े समयमें सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन आदि को प्राप्त होकर मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है।

इस पत्र में मुमुक्षुता के प्रारम्भ से लेकर पदार्थ निर्णय तक पहुँचाने की 'कृपालुदेव' की जो पारमार्थिक योजना है वह योजना यहाँ खोली गई है। कोई भी काम योजनापूर्वक होता है तो सर्वांग सुन्दर होता है और निर्विघ्नपने वह कार्य सम्पन्न होता है। इसलिए इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर हमलोग इस पत्र का स्वाध्याय करेंगे।

प्रथम शीर्षक जो है वही इस पत्र का तात्पर्यभूत विषय है। खास करके जिन-जिन पत्रों का शीर्षक लिखने में आया है वह पत्र के विषय के अनुरूप और जिन्हें पत्र लिखा है उनकी योग्यता के अनुरूप, बहुभाग लिखने में आया है। **'निःशंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है और उससे निःसंगता प्राप्त होती है।'** निःशंकता कब आती है ? पदार्थ का यथार्थ निर्णय हो तो आवे। मेरा स्वरूप ऐसा है जैसा अनन्तगुणात्मक 'जिनपद निजपद एकता भेद-भाव नहीं कांई' जैसा जिनेश्वर सर्वज्ञ परमात्मा का स्वरूप है ऐसा मेरा स्वरूप है। इसमें कोई भी प्रकार का अन्तर, कोई भी प्रकार का भेद-भाव, रंचमात्र भी फेर-फार नहीं है। ऐसा स्वरूपका निर्णयसे निःशंकपना होता है। और यह निर्णय किस प्रकार से होता है ? और यह निर्णय किस प्रकार से होता है ? कैसा होता है ? उसका स्वाध्याय करना योग्य है। इसलिए इस पत्र के अनुसंधान में लेंगे। 'कृपालुदेव' के वचनामृत का अनुसरण करके लेंगे।

यहाँ उन्होंने तात्पर्य निकाला है, अगर पदार्थ का निर्णय निःशंकपने हो, निजस्वरूप की पहचान निःशंकपने हो तो जीवको

निर्भयता उत्पन्न होती है। सबसे पहले लाभ यह बनता है। निर्भयता माने क्या ? यह जीव संसार में सप्त-भय सहित परिभ्रमण कर रहा है। सात भय कहो या सभी भय कहो। सप्त के अन्दर सभी भय आ जाते हैं। शास्त्रकारों ने तमाम प्रकार के भय को सात प्रकार में विभाजति कर दिये है। सात के प्रभेदों में सभी भय आ जाते हैं। निर्भयता हो, यानी के कोई भी प्रकार का भय न रहे। भय का परिणाम है वह इस जीव को दुःख का कारण है। भय का परिणाम है वह जीव को दुःखदायक है, और यह निरन्तर दुःखी करता रहता है। जब कि जीव को आदत हो गई है इसलिए इसको खबर कम पडती है, इसका मतलब इसको दुःख नहीं है, ऐसा नहीं है। अनेक भवों में नरक निगोदके दुःखों का अनुभव किया है, भोगा है परन्तु अब उसकी खबर नहीं है। अतः नहीं भोगा-ऐसा नहीं है। अथवा नहीं भोगता है - ऐसा नहीं है। भयकी परिणति तमाम संसारी जीवों को निरन्तर होती है। इसमें मृत्यु का भय, पीड़ा का भय, अकस्मात का भय, चोरी का भय, सभी भय इसके अन्दर आ जाते हैं।

जब स्वरूप का निर्णय निःशंकपने होता है, तब कोई भी प्रकारके (सभी प्रकार के) भयसे जीव रहित हो जाता है। स्वरूप भयरहित है, जिससे उसके निर्णय में भी भय का अभाव होता है यह सहज है। भयके परिणाम सम्बन्धी संक्षेपमें थोडा विचार करें तो इस प्रकार का है।

भय की उत्पत्ति कहां से होती हैं ? अथवा भय की उत्पत्ति का कारण क्या ? यह जीव स्वयं के स्वरूपको भूलकर, स्वयं के स्वरूप को चूककर अन्य पदार्थ में ममत्व करता है। यह ममत्व (ही) भय का कारण है। अन्य कोई भय का कारण नहीं है। जैसे

कि शरीर मेरा है, इसको कुछ भी हो जाए उसका भय है। मुंबई में हुए बोम्बार्डिंग का सभी ने ठीक-ठीक अनुभव किया है। बड़ा धमाका होता है, तब भय सम्बन्धी विकल्प करे विना भय व्याप्त हो जाता है। भय का विकल्प करने का भी समय नहीं रहता है इसके पहले तो भय व्याप्त हो जाता है। क्यों कि शरीर का ममत्व और भय की परिणति जीव की चालू ही है। निर्विकल्पपने चालू है। अतः इसका भय भी चालू है। और जहाँ शरीर का भय है वहाँ शरीर को अनुकूलता देनेवाले साधन पर भी ममत्व है, जिनको संयोग कहने में आता है। इन सभी संयोग सम्बन्धित भय उत्पन्न हुए बिना रहता नहीं है। जहाँ ममत्व है वहाँ भय हुए बिना रहता नहीं है।

स्वरूप की निःशंकता उत्पन्न होती है तब स्वरूप में पहले मैं-पना लगता है मैं-पना भासित होता है। मैं-पना भास्यमान होता है तब से अन्य पदार्थ में मैंपनाका जो निश्चय है वह बदल जाता है। निःशंकता स्वरूप के निश्चय के कारण आई है। स्वरूप का यथार्थ निश्चय कहो या सच्चा निश्चय कहो। इस से पहले जो गलत निश्चय है, जिनको 'मिसकन्सेप्ट' (मिथ्या अभिप्राय) हम लोग कहते हैं, जिनके कारण से तमाम जीव संसार में भय से ग्रसित ही हैं। भले बाहर से चाहे जितने भी साधन संपन्न हो, सुखी दिखते हों और बाहर से चाहे, जितनी 'सिक्योरीटी' प्रसिद्ध है - प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति हो। रोजाना लाखों रुपयों का खर्च इनकी सलामती के लिये होता है। इसका कारण यह है कि भय भी उतना ही बड़ा है। भय से सभी ग्रसित हैं। देखो इतने सत्ताधारी भय से ग्रसित हैं कौन भय से ग्रसित नहीं ? यह नीचे के मनुष्यों को समझाने की जरूरत नहीं रहती। और मुंबईका जीवन कितना अनिश्चित

है यह मुंबईवालों को समझानेकी जरूरत नहीं रहती। घरमें से बाहर निकले कि संध्याको घर वापस आये तब शांति (निश्चिन्ता) अन्यथा कह नहीं सकते कि क्या हो जाये।

इन सभी प्रकार के भय निकालने के लिये ज्ञानी पुरुषोंने करुणा करके इस विषयको स्पष्टपने खोलकर रखा है। जब तक निःशंकता नहीं आये तब तक निर्भयता नहीं आये। और तब तक जीव भयभीत होता है, भयसे ग्रसित होता है तब तक राग-द्वेष रहित होकर असंग दशा - निःसंगदशा को प्राप्त नहीं हो सकता। निःसंगदशा माने कोई भी परपदार्थका संग हो इस प्रकार का परिणाम अथवा उपयोग न चले। उपयोग केवल स्वरूप में ही लगा हुआ रहै। ऐसी निःसंगदशा है वह निर्भयता के बिना संभवित नहीं है। इसलिये यहाँ पर भी क्रम का बोध दिया है। स्वरूप निश्चय से निःशंकता की उत्पत्ति होती है और निःशंकता के कारण निर्भयता उत्पन्न होती है और जो निःशंकपने निर्भय होता है तो वह जीव स्वरूप में स्थिर होने के लिये समर्थ होता है। स्वरूप में स्थिर रहने के लिये वह जीव समर्थ हो सकता है। इस स्वरूप में उपयोग जितना लीन होता है उसको निःसंग - असंग दशा कहने में आती है। इस प्रकारसे पवित्र ऐसी असंगदशा का मूल कारण जो स्वरूप निश्चय उस सम्बन्ध में 'कृपालुदेव' का यह एक महान सूभ है। इस स्वरूपनिश्चय तक कोई भी सामान्यजन किस तरह पहुँच सके, ऐसी एक व्यवस्थित योजना इस पत्र के अंदर 'कृपालु देव'ने प्रतिपादन किया है।

'प्रकृति के विस्तार से जीव के कर्म अनन्त प्रकार की विचित्रता के प्रवर्तन करते हैं; और इससे दोष के प्रकार भी अनन्त भासित होते हैं; परन्तु सबसे बड़ा दोष यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न ही न हो, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न न हो।' यहाँ पहला

वचनमृत पूरा होता है। यहां जब तक अल्पविराम है उस सम्बन्धी हम विस्तार करेंगे।

‘प्रकृति के विस्तार से जीव के कर्म अनन्त प्रकार की विचित्रता से प्रवर्तन करते हैं।’ यह बात की है कर्म प्रकृति की। ‘कर्म अनन्त प्रकारका, उसमें मुख्ये आठ; उसमें मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहु पाठ।’ (आत्मसिद्धिशास्त्र गाथा १०२) कर्म का विस्तार कितना है ? कर्म अनन्त प्रकार के हैं। चित्र-विचित्र प्रकार हैं। अतः विविध-विविध प्रकार हैं। चित्र-विचित्र का अर्थ यहाँ विविध-विविध प्रकार है। इन कर्म प्रकृतियों के उदय में जीव के परिणाम जुड़ते हैं तब उन उन प्रकृतियों का दोष जीव स्वयं करता है। जब तक जीव निज स्वरूप की पहचान करके, स्वरूप निश्चय करके; स्वयं में लीन नहीं होता, निजका परिणाम निज स्वरूप में नहीं लगे; तब तक जीव के परिणाम का अनिवार्यपने निवारण नहीं हो सकता - इस प्रकार प्रकृति के उदय में जुड़े बिना रहे नहीं। यह एक परिणाम स्वभाव है। अथवा यह एक परिणाम का विज्ञान है। परिणाम या आत्मा में - आत्मस्वरूपमें लगे - जुड़े, या आत्मस्वरूप को छोड़कर कर्म के उदय में जुड़े। परिणामको कोई न कोई अवलंबन चाहिये। या तो यह स्वरूपका अवलंबन ले, या फिर कर्म के उदय का अवलंबन ले, दो में से एक प्रकार होता, होता और होता ही है। इसके अलावा तीसरा परिणाम जगत के किसी जीव को नहीं होता। जब जीव को स्वरूप निर्णय होता है अथवा स्वरूप निश्चय होता है, तब से जीवके परिणाम का झुकाव बदल जाता है। परिणामों का प्रवाह है वह दिशा बदलाता है। स्वरूप सन्मुख होता है। और तब से परिणाम स्वरूप में लगना शुरू हो जाता है। शुरूआत में इसका अंश कम होता है। बाद में वर्धमान (वृद्धिगत) होकर पूर्णता

को प्राप्त होता है। इससे पहले सभी संसारी जीव को कर्म के उदय में अनिवार्यपने जुड़ना होता है। अतः इन कर्मोंके प्रकार अनंत होने से, जीव के दोषों के प्रकार भी अनंत भासित होते हैं। अथवा अनंत प्रकार के दोष अनुभवगोचर होते हैं।

अब मुमुक्षुजीव अर्थात् उसका एक शब्दचित्र ले तो; मुमुक्षुजीव अर्थात् जिसको स्वयं की वर्तमान दशा में कुछ असंतोष है जिसके कारण वह निज की दशा में वर्तमान में प्रवर्तता है, जिसमें थोड़ा-बहुत सुधार करना चाहता है; ऐसा जीव। फिर से, स्वयंकी वर्तमान दशा से जो असंतुष्ट है; उस में उसको कुछ न कुछ त्रुटि दिखती है। उसमें परिवर्तन करके वह सुधार करना चाहता है; ऐसे जीव के लिये एक विचार की उत्पत्ति होती है एक अभिप्राय बाँधता है कि मुझे कुछ न कुछ ऐसा करना है कि जिस से मेरे में कुछ न कुछ सुधार हो। अथवा तो जिसको अवगुण पसंद नहीं, जिसको अवगुण नहीं चाहिये, परन्तु सद्गुण चाहिये ऐसा कुछ न कुछ जिसको विचार होता है, ऐसे जीवको यह बात स्पष्ट ख्याल में आ जाये ऐसी है। स्वयं के अनुभव से ख्याल में आये ऐसी है। जीव के दोषों के प्रकार भी बहुत हैं। स्वयं के दोष के ख्याल से ऐसा आता है। महापुरुषों के वचन ज्ञानीपुरुषों के वचन हैं। जिनका स्वाध्याय किस पद्धति से करें, किस प्रकार करें, यह बात यहाँ से कुछ संकेत (निर्देश) करने योग्य लगती है।

बात तो 'कृपालुदेव' यहाँ इतनी करना चाहते हैं कि दोष के प्रकार अनंत भासित होते हैं। इस वचन में - इस वाक्य में - कुछ मर्म है, ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है। बात को खोलना हो तो ऐसे खोली जा सकती है। दोष के प्रकार भी अनंत हैं। कर्मप्रकृति के अनंत प्रकार हैं, जिस से दोष के भी अनंत प्रकार हैं। ऐसा

नहीं लिखा। परंतु ऐसा लिखा है कि दोष के प्रकार भी अनंत भासित होते हैं। लगता है माने क्या ? भासित होना मतलब लगना, feel होना।

अब स्वाध्यायपद्धतिका अनुसरण करके विचारें। स्वाध्यायपद्धति दो प्रकार की देखने में आती हैं। इस में बहुभाग एक प्रकार ऐसा है कि (जो) वैचारिक मर्यादा की भूमिका में समाप्त होता है। विचार यह तर्क और अनुमानप्रधान न्याय (logic) के साथ संकलित एक वैचारिक भूमिका है। जब कि दूसरी अनुभव पद्धति में स्वयं के अनुभव को स्पर्शकर अनुभव का अवलोकन करके अनुभव को अनुभव से समझ करके यह बात समझ में आती है। (तब) इस विषय का तलस्पर्शी ज्ञान होता है। खास करके अपना जो धार्मिक स्वाध्याय है उस धार्मिक स्वाध्याय के मुख्य दो विषय हैं। एक विषय जीव के दूषित परिणामों का है। और यह प्रयोजनभूत विषय है। दोषका विषय दोष के अनुभव से समझना चाहिये और निर्दोषता का विषय निर्दोषता के अनुभव से समझ में आता है, और तभी यथार्थ समझ में आता है, सच्चे अर्थ में समझ में आता है। यथार्थ समझ में आये मतलब सच्चे अर्थ में समझ में आता है। नहीं तो स्वाध्याय करनेवाला जो समूह है वह बहुभाग बुद्धि से प्रवर्तन करनेवाला समाज है। बौद्धिक स्तर पर अपना जीवनव्यवहार चलता है। कमाते हैं यह भी बुद्धि चलाकर के कमाते हैं अपना जो उपजीवन कहलाने में आता है, वह बौद्धिकस्तर पर चलता है। और यह बौद्धिकशक्ति अपने स्वाध्याय करने में लगाये तो हम लोग जिस किसी ग्रंथका, जिस शास्त्रका, जिस किसी आगम का स्वाध्याय करें उस में आगम का अर्थ क्या है ? जिसको आगमार्थ कहने में आता है। आगम में न्याय क्या है ? उसको नयार्थ कहने में आता है। आगम के

शब्द के अर्थ को शब्दार्थ कहने में आता है। उस के तात्पर्य को भावार्थ कहने में आता है। अन्य मतों के शास्त्रोंके साथ उसकी तुलना करने में आती है तब उसको मतार्थ कहने में आता है और तर्क एवं अनुमान से विशेष विचार करने में आता है।

पत्र के अनुसंधान में यह बात है, 'कृपालुदेव'ने इस पत्र में दोष के प्रकार अनंत भासित होते हैं, ऐसे शब्दका प्रयोग क्यों किया है ? भासना मतलब लगना, - TO FEEL - अनुभव होना। तो मुमुक्षुजीव इस वचनामृत को इस प्रकार समझे - Practical Side - से। मेरे में कितने प्रकार के दोष होते हैं ? तब उसको समझ में आ जाता है कि अनेक प्रकारके दोष मेरे में होते हैं। इस पर से कहनेवाला कोई अनुभवी पुरुष है। और उनके वचन स्वीकार करने योग्य, मान्य करने योग्य हैं आदर करने योग्य हैं - ऐसा अपने आप लगे बिना नहीं रहता। विचार से मान्य करना और ऐसा लगकर मान्य करना इस में बहुत अन्तर है। बहुत बड़ा अन्तर है। ज्ञानी पुरुषों की और उसमें भी 'कृपालुदेव' की वचन पद्धति है, उसमें एक विशेषता है और यह विशेषता अनेक जीवों को स्पर्श कर जाये ऐसी है, ऐसा कोई उनका वचन अतिशय है। उनकी तो हम सब स्वाध्याय के दौरान भक्ति करने योग्य हैं। ऐसा जो वचन अतिशय है, वह वचन अतिशय जीवके परिणाम के बहिर्मुखपना का छुड़ाकर अंतर्मुख गति कराता है, जीवकी दिशा को एक नया मोड़ दे ऐसा एक असाधारण, असामान्य प्रकार उनके वचनों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और अनुभव प्रधानता तो प्रत्येक वचन में रही हुई है। जब कहनेवाले की पद्धति अनुभवप्रधान है तब इन वचनोंका वांचन, श्रवण, चिंतन करनेवाले की पद्धति (भी) अनुभवप्रधान होनी तो उनको जो कहना है उसको, समझने से वंचित रह जाने

की संभावना है।

यह एक ऐसा विषय है, बहुत रहस्यभूत विषय है। अनंतकाल से जीव को मालूम नहीं पड़ा, ऐसा यह विषय है, गूढ विषय है। और इसलिये इस विषय के वांचन और श्रवण तक समीप आने के बावजूद भी उसके रहस्यसे या उसके परमार्थ से वंचित रह जायें, तो इसके बराबर और कोई अफसोस करने योग्य बात नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। इस तरह एक शब्दमें से कितनी बातें निकलती हैं। **‘दोष के प्रकार भी अनंत भासित होते हैं’** इस वचनामृत का स्वाध्याय करते समय अपने दोषों की तरफ एक दृष्टिपात करने में आये तो at a glance, क्षणभर में समझ में आ जाये कि कहनेवाले का अनुभव इसके पीछे क्या है। अपने अनुभव से इस बात को वह स्वयं समझ सकता है। अब जब कि दोष के प्रकार अनंत हैं और स्वयंको किसी - किसी प्रकारका दोष होता ही रहता है तब दोष को मिटाने का जिसका अभिप्राय होता है उस जीव को होता है कि उसको (दोष को) किस प्रकार मिटायें ? एक सामान्य उदाहरण हमलोग लें। मुख्य चार प्रकृति हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ; चार प्रकार के दोष की प्रकृति हैं। दोष में किसी को मान की मुख्यता होती है; कोई लोभी होता है तो उसको लोभ की मुख्यता होती है। कोई मायाचार विशेषपने करते हैं तो कोई क्रोध की प्रकृति के होते हैं। ऐसे तो चारों प्रकार के दोष सामान्यतः होते हैं। परन्तु विशेष प्रकार से किसीको एक कि दो कि तीन प्रकृति दोष होते हैं, तब जिसका दोष मिटाने का अभिप्राय है उसको ऐसा होता है कि इसका रस्ता क्या ? मेरे में मान हो तो उसको किस प्रकार से मिटाना ? क्रोध हो तो उसको किस प्रकार से मिटाएं ? दोष तो अनेक प्रकार के होते हैं, तो प्रत्येक को मिटाने

का अलग-अलग उपाय कैसे करना ? यह एक विडम्बना लगती है अथवा एक कठिन विषय लगता है। और उस कारण से इस विषय को स्पर्श करने के लिए जीव अनेक प्रकार के धर्म साधन करता है। अनेक प्रकार के धर्म साधन करने में जब तक उसको योजनापूर्वक की व्यवस्थित कार्य पद्धति स्वयं के हाथ में नहीं आती तब तक स्वयं की मति-कल्पनानुसार कुछ ने कुछ करता ही रहता है। सामान्यतः सभी की समझन ऐसी है कि संसार है, उसके कार्य हैं, वह दोष का ठिकाना है, और धर्मक्षेत्र है वहाँ निर्दोष होने की बातें चलती हैं। बाद में जिस किसी संप्रदाय की जो कोई धर्म की रूढिगत प्रणालिका होती है, प्रायः वह रूढि का अनुसरण करती है। परन्तु 'कृपालुदेव' इसको यथार्थ पद्धति कहते नहीं। इसलिए इस विषय की उलझन मिट जाए ऐसी बात इस जगह में 'कृपालुदेव' ने की है।

'...परन्तु सबसे बड़ा दोष यह है कि -' तुम छोटे छोटे दोष की पकडकर उसको नाश करने के उपाय में जाने के बदले एक बड़ा दोष बता दें तो यह दोष मिटाये तो बाकी के सभी दोष अपनेआप चले जायेंगे। नहीं तो क्या होता है कि 'नाली को बंद करना और दरवाजा को खुला रखना।' प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय में यही भूल है। उदाहरण लें।

मुसलमान-लोग व्याज खाने को बड़ा दोष गिनते हैं। जो लोग मक्का की हज करके आते हैं उनको प्रतिज्ञा होती है कि व्याज नहीं खाना। यानी स्वयं की सम्पत्ति व्याज में नहीं रखते। दोष बहुत बड़ा नहीं है। व्याज खाना यह दोष है परन्तु बहुत बड़ा दोष नहीं है। परन्तु छोटे दोष को बहुत बड़ा कर लेते हैं। कारण कि वहाँ दोष मिटाने की कोई योजना नहीं है। इस धर्म के सम्प्रदाय

में ऐसी कोई योजना नहीं कि किस प्रकार से दोष को मिटाना। अतः कोई किस प्रकार से कोई किस प्रकार से। अन्त में भान न चढ़े उसके लिए हज करके आ गये हों तो पायजामा ऊंचा पहनना। यह लोग ऊंचा पायजामा पहनते हैं। आपलोग देखियेगा। दाढी रखते हैं। इस प्रकार की दोष घटाने की युक्ति-प्रयुक्ति होती है।

यह ईश्वरकर्तावाले 'क्या करें ?' भगवान जो करता है उसको मान्य रखो। सब कुछ भगवान के ऊपर छोड़ देते हैं। कोई अच्छा काम किया हुआ हो तो भगवान ने किया। मैंने नहीं किया। बिना वजह मुझे मान चढ़ जायेगा। मेरे पास से ईश्वर ने करवाया। इस प्रकार दोष मिटाने के लिए कोई न कोई प्रति-प्रयुक्ति प्रत्येक संप्रदाय में होती है। इसके पीछे उनके न्यायके प्रकरण पानी के logic (तर्क) भी होता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष का जो मार्ग है, वही वास्तविक जैन दर्शन है। 'कृपालुदेव' इसको ज्ञानी पुरुषों का मार्ग कहते हैं। 'जैन दर्शन' थोड़े शब्द का प्रयोग इसीलिए करते हैं, अनेक गच्छमत चल रहे हैं। और विभिन्न प्रकार से हरएक की पद्धति थोड़ी-थोड़ी भिन्न देखने में आती है। ज्ञानीपुरुषका जो मार्ग है; वह मार्ग जब तक जीव के हाथ में नहीं आता, इस मार्ग में जीव चढ़ता नहीं तब तक यह मनमानी अथवा स्वयं को ठीक लगे उस तरह; जिस सम्प्रदाय में जैसी रूढि होती है उस अनुसार कोई न कोई धर्मसाधना करता है और निर्दोष होने का प्रयत्न करता है।

यहाँ पर एक बहुत विशिष्ट बात यह है कि 'सबसे बड़ा दोष यह है कि जिससे 'तीव्र मुमुक्षुता' अथवा 'मुमुक्षुता' उत्पन्न ही न हो' यह सबसे बड़ा दोष है। बाद में मुमुक्षुता माने क्या ? यह नीचे कहेंगे।

यह सबसे बड़ा दोष है। इसलिए यह नहीं कहा कि तुम सुबह नमस्कार मंत्र नहीं बोलते यह बड़ा दोष है। अथवा तुम कारखाना चलाते हो वह बड़ा दोष है। अथवा तुम गृहस्थ के योग्य परिणाम करते हो इसलिए बड़ा दोष है। अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ करते हो इसलिए बड़ा दोष करते हो ऐसा कुछ नहीं है। मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं हुई है यह सबसे बड़ा दोष है। बहुत विशाल ज्ञान के और गहरा अनुभव के प्रसारमें से यह एक वचन निकाला हुआ है। एक एक वचन के पीछे अगर 'कृपालुदेव' को हमलोगों को समझना हो तो उनके अनुभव को समझना चाहिए। स्वयं जातिस्मरणज्ञान के धारक थे। बचपन से यह सर्व विदित है। इसलिए उनको बहुत भवों और हकीकतों का स्मरण था। उन्होंने स्वयं के आत्म-कल्याण के लिए बहुत परिक्षम अनेक प्रकार से किया था, वह भी उनको याद है और उसके बाद उनको मूल मार्ग मिला। मुमुक्षुता सम्पन्न हुई और मोक्ष मार्ग में चढे। यह सब भी उनको ख्याल में है। सभी ज्ञान के और सभी अनुभव के निचोड़ के रूप में घट्ट वचनामृत अपने समक्ष है। यह मात्र पत्र नहीं है। उसे शास्त्र कहिए, उसे आगम कहिए, उसे परमागम कहिए। यह सभी इसमें हैं (इस वचनामृत में है।) उसका Form (दिखाव), बाह्य दिखाव भले ही पत्रों का है लेकिन उसके अन्दर अमूल्य से अमूल्य बातें लिखी हुई हैं। अनेक शास्त्रों की गहरी और तात्पर्यभूत बातें इसमें आई हैं।

जीवमें 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न नहीं हुई यही सबसे बड़ा दोष है। यह मुमुक्षुता यानी कि खरी (सच्ची) मुमुक्षुता लेनी है। मुमुक्षु मण्डल में वार्षिक शुल्क भरना यह बात यहाँ नहीं लेनी है। बाद का जीवन भले जैसा भी हो, इस प्रकार की बात नहीं है। सच्ची मुमुक्षुता

स्वयं ही नीचे कहना चाहते हैं। ऐसी मुमुक्षुता उत्पन्न नहीं होये वहाँ तक जीव का सबसे बड़ा दोष मौजूद है, और जहां सबसे बड़ा दोष मौजूद है वहाँ छोटे-छोटे दोष होते ही रहेंगे और मिटेंगे नहीं। यह बात समझाने की उतनी जरूरत नहीं है। इसलिए इस वचनामृत के माध्यम से 'कृपालुदेव' मुमुक्षु के प्रति एक ध्यान खींचना चाहते हैं। जो वास्तव में मोक्षमार्ग की प्राप्ति करके मोक्ष तक यदि पहुँचना हो (मोक्षमार्ग का फल मोक्ष है), तो सच्ची मुमुक्षुता आये बिना किसी को भी मोक्षमार्ग उत्पन्न हुआ हो - यह तीन काल तीन लोक में भी सम्भव नहीं है। और यह सच्ची मुमुक्षुता क्या है - इस विषय पर प्रकाश डालना है, वह स्वयं ही स्पष्ट करते हैं। यहाँ मुमुक्षुता के विषय में मुझे कहना है। नीचे लिखते हैं - 'तीव्र मुमुक्षुता' के विषय में यहाँ कहना नहीं है परन्तु 'मुमुक्षुता' के विषय में कहना है।'

इस पत्र में क्या कहना है ? मुमुक्षुता के बारे में मुझे बात करनी है। उसका प्रारंभ किसतरह से हो, यह मुमुक्षुता वर्धमान किस तरह से हो, और यह मुमुक्षुता चरमसीमा को - परम हद तक पहुँचे तब ज्ञान प्राप्ति कर वह जीव मोक्षमार्ग में चढ़ता है। अतः सबसे बड़ा दोष यह है कि जिससे तीव्र मुमुक्षुता उत्पन्न न हो। तीव्र मुमुक्षुता ही उत्पन्न न हो। पहले सामान्य मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, जो सच्ची मुमुक्षुता है बाद में तीव्र मुमुक्षुता अर्थात् ज्ञानदशा की प्राप्ति होती है।

आगे कहते हैं 'प्रायः मनुष्य आत्मा किसी न किसी धर्ममत में होता है।' जब जन्म होता है तब यह कुटुम्ब किसी न किसी सम्प्रदाय में होता है। विश्व में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो किसी न किसी सम्प्रदाय में न हो। ऐसा कोई कुटुम्ब नहीं है। अभी

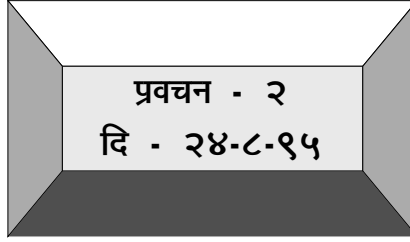
हमलोग जिस विश्व में हैं वहाँ सबसे अधिक क्रिश्चन (ईसाई) और मुसलमान लोग हैं। बाद में तो सैकड़ों छोटे-बड़े सम्प्रदाय हैं। जहाँ मनुष्य का जन्म होता है, और जिससे उन उन धर्म-मत के अनुसार वे प्रवर्तन करते हैं। उन सम्प्रदाय के अन्दर जिस किसी धर्म की कार्य पद्धति होती है, रूढि होती है, बाह्य प्रवृत्ति होती है जिसका वे अनुसरण करते हैं। Tragedy इस बात की है - यह एक करुणता है। मनुष्य जीवन की यह एक बहुत बड़ी करुणता है कि जीव दूसरी सभी चौकसी करता है, बुद्धि लगाता है, परीक्षा करता है, बहुत माथाकूट और चौकसी करके निर्णय लेता है; जीवन के सभी क्षेत्रों में। (परन्तु) एक धर्म का क्षेत्र ऐसा है जहाँ अंध-विश्वास करता है। जिस धर्म सम्प्रदाय में होता है वहाँ वह चला जाता है। कभी कोई मनुष्य सम्प्रदाय बदलता है परन्तु वहाँ बुद्धि नहीं लगाता है। या कोई मित्र के हिसाब के हिसाब से या कोई पिता के हिसाब से, या जीवन में कोई ऐसा प्रसंग घट जाए, ऐसी घटना के आधार पर किसी न किसी धर्म-मत को अनुसरता है। धर्म में अंधश्रद्धा - यह एक विश्व व्यापि दोष है, ऐसा कह सकते हैं। ऐसा नहीं है कि धर्म के क्षेत्र में जानेवाले को बुद्धि नहीं होती। उसमें भी बड़े बड़े जज (न्यायाधीश) हैं, वकील हैं - जो बहुत बुद्धि लगाते हैं। परन्तु (मनुष्य) धर्म-मत में स्वयं की अंधश्रद्धा से चलते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है। और बहुभाग धर्म के नेता, धर्म के प्रणेता धर्म के ग्रन्थ - अन्धश्रद्धा का पोषण करनेवाली बात करते हैं, ऐसा उपदेश भी देते हैं। एक जैनदर्शन को छोड़कर, ज्ञानियों को छोड़कर, यह बात स्पष्ट देखने में आती है। 'हम कहते हैं वैसा करो।'

जैन-दर्शन में ऐसी बात नहीं है। यहां परीक्षा प्रधानता है।

चौकसी करनी है एक-एक बात की, बारीक से बारीक चौकसी करनेकी, परीक्षा करनेकी पद्धति जैन-दर्शन में, वीतराग दर्शन में है। देखो इस प्रकार से धर्म प्रवृत्ति नहीं होती हो तो जैन होने के बावजूद भी ये जैन-दर्शन में नहीं है। ऐसा मान्य करने योग्य है। कारण कि अन्य मत में भी ऐसा ही चलता है, अजैन मत में भी ऐसा चलता है। हमलोग भी वैसे ही चलें तो उनमें और अपने में कोई भी अन्तर नहीं है। लेकिन ज्ञानीपुरुष हुए, गुरु हुए, संत हुए, उन्होंने ठोक-बजाकर यह बात की है। ऐसी अन्धश्रद्धा नहीं चलेगी, तुमलोगों को हमारे मार्ग का अनुसरण करना हो तो ऐसी अन्धश्रद्धा नहीं चलेगी। विचार करना पड़ेगा। गहराई से विचार करना पड़ेगा और अनुभव से हमारी बात का मिलान करना पड़ेगा। तभी यह समझ में आयेगा। और इस प्रकार से तुमलोग नहीं समझे और अन्धश्रद्धा से, जिसको हमलोग जैन परिभाषा में 'ओघ संज्ञा' कहते हैं, ओघ-संज्ञा से कोई धर्म प्रवृत्ति करोगे तो तुम्हें कोई पारमार्थिक लाभ नहीं होगा। वास्तव में धर्म का लाभ नहीं होगा। अतः तुम्हें वास्तविक आत्मशांति प्रगट नहीं होगी। आत्मा की सुख-शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिए कहा ('कृपालुदेव'ने) 'प्रायः मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्ममत में होता है, और उससे वह धर्ममत के अनुसार प्रवर्तन करता है - ऐसा मानता है परन्तु इसका नाम मुमुक्षुता नहीं है।' यह वास्तव में मुमुक्षुता नहीं है। इसे कोई मुमुक्षुता कह सकते नहीं। इस प्रकार से 'कृपालुदेव'ने मुमुक्षुता के विषय पर प्रारम्भ में थोड़ा प्रकाश डाला है।

विशेष बात अब इस पत्र में आगे आयेगी।

अभी समय पूरा होता है।



मुमुक्षु का प्रकरण है। मुमुक्षु का विषय है। मुमुक्षुता, सच्ची मुमुक्षुता यथार्थ मुमुक्षुता कैसी होती है; जिससे कि जीव को सिद्धपद मोक्ष प्राप्त होता है। नीचे से विचार करें तो सिद्धपद की नींव (पाया) है - यह यथार्थ मुमुक्षुता है। मोक्षमार्ग के शरू की, भले यह नीचे के कोटि की दशा है, तो भी उसका महत्त्व ऊंचे मकान के (नींव) पाया के बराबर हैं। सामान्यतः मकान की ऊंचाई लोग देखते हैं इस ऊंचाई की प्रशंसा भी करते हैं। 'मकान बहुत ऊंचा', परन्तु किस नींव (पाया) पर उसकी ऊंचाई टिकी हुई है - इसका महत्त्व इस विषय के जानकार को होता है; उसी को आता है। इतनी ऊंची इमारत है। तो उसका जो पाया है वह उसका जीवन है। नहीं तो यह इमारत टिक सकती नहीं। ऐसे, जो सिद्धपद उत्पन्न होता है, निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है, जीव निज के परमेश्वर पद को प्रगट कर सकता है, परन्तु कब ? जब यथार्थ मुमुक्षुता आये तब। इस यथार्थ मुमुक्षुता का प्रारम्भ कहाँ से होता है। जिसका स्वाध्याय कल से चल रहा है।

क्योंकि प्रारम्भ है - वही सिद्धपद का मंगल शिलान्यास है। कोई भी अच्छा बिल्डींग बनाना हो तो उसका शिलान्यास भी भव्यपने करने में आता है। उसका फंक्शन करता है। रत्न डालता है नीचे

- पंच रत्न डालता है कि नहीं ? मेरा मकान चांदी के पाये का है ? क्या कहना है ? इसलिए मजबूत है। ऐसा जो निर्वाणपद सादि अनन्तकाल पर्यंत परमानंद की दशा में, केवलज्ञान की परिपूर्ण दशा में रहना है - इसका पाया भी उसी प्रकार से मांगलिक है, सुन्दर है। और यह सबसे पहले कोई भी मुमुक्षु जीव का मंगल चरण है, मंगल आचरण है। यह विषय 'कृपालुदेव' इस पत्र में खोलना चाहते हैं।

ऐसा नहीं है कि जीव निज के धर्म मतानुसार क्रिया करता है इसलिए मुमुक्षुता आ गई। निज के धर्म मत से अलग पड़कर भी भले ही ज्ञानी के वचन का सेवन करने में आये, अध्ययन करने में आये, स्वाध्याय करने में आये और वह भी अगर दिनचर्या बन जाये, जबकि स्वाध्यायादि नियमित करने योग्य तो है ही। लेकिन नियमित करने योग्य होने से एक दिनचर्या हो जाये, घंटे, डेढ़-दो घण्टे, जो कोई समय निर्धारित किया हो; उसमें उपस्थित हो जाना; और ऊपर ऊपर से चलना; इस प्रकार से जब बनता है तब ज्ञानीपुरुष के प्रगट आत्मस्वरूप को कहनेवाले ऐसे वचन भी जीव के स्वयं के आत्मा पर असर नहीं कर पाते हैं। ऐसी परिस्थिति न हो, यह भी एक पहलु से विचार करने योग्य बात है। इसके लिए बहुत-बहुत विचार और अनुभव के अन्त में संक्षेप में यथार्थ मुमुक्षुता का लक्षण क्या है ? वह कहते हैं। जब कि पात्रता के अनेक लक्षण हैं, फिर भी एक मार्मिक विषय 'कृपालुदेव' इस पत्र में शरू करते हैं।

'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करना - एक वाक्य के अन्दर मुमुक्षुता की परिभाषा की है, व्याख्या की है। एक ही वाक्य में की है

कि मुमुक्षुता यह है कि सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर। 'मोहासक्ति से अकुलाकर', यह एक विशेष प्रकार का परिणमन है। यह सामान्यतः (हरएक) मनुष्य को होता नहीं है। संसार में कोई भी जीव को मोहासक्ति का परिणाम होता है तब उसमें रस आता है, उसमें मिठापन आता है। उसमें जीव भी तल्लीन हो जाता है, एकाग्रता हो जाती है। और उस समय में जीव अधिक से अधिक कर्म का बंधन करता है। अथवा तो स्वयं के आत्मरस के विरुद्ध रस को पीता है। अगर आत्मरस को अमृतरस गिनते हैं तो यह जहर है। विषय कोई भी हो परन्तु जीव के स्वरूप को छोड़कर किसी भी अन्य विषय में अन्य पदार्थ में रस आये; और जितने प्रमाण में रस आये, कि उतने ही प्रमाणमें उसी समय जहर खाया। जैसे की 'सूरत की तुअर दाल की चुस्ती (सबडका) लिया हो, वह बहुत अच्छी, यह दाल तो इतनी (अच्छी) बनती है।' ऐसे कोई एक चीज कोई एक प्रसंग, कोई एक क्षण; जीव अन्य पदार्थ में, अन्य विषय में रस लेता है - यही जीव को बंधन है। और यह आत्मरस के विरुद्ध - ऐसा रस है। उसमें जीव तन्मय होता है, एकाग्र होता है और अधिक से अधिक स्वयं का नुकसान उसी समय में करता है। नुकसान करता है - उसका अर्थ यह है, उस समय स्वयं की आत्मशांति के विरुद्ध - ऐसा परिणाम करता है। जिसको अशान्ति का परिणाम कहा जा सके - ऐसा परिणाम करता है। आत्मा की शान्ति को ज्यादा से ज्यादा खराब करता हो - वह इस प्रकार का परिणाम है।

जो जीव आत्महित के प्रति झुकाव होनेवाली थोड़ी भी योग्यता में आता है, प्राथमिक योग्यता में आता है, अथवा यथार्थ मुमुक्षुता में आता है; तब उसके परिणाम में जो बदलाव आता है वह बड़ा

बदलाव यह है। उस समय उसको अकुलाहट होती हो - ऐसा लगता है। और वास्तव में आत्मशान्ति का घात करके ही यह परिणाम उत्पन्न हुआ है। अतः जिसको आत्मशान्ति प्रगट करनी है अथवा प्रगट करने की योग्यता है उनको अकुलाहट होती है, और किसी को घबराहट भी होती है - जैसे कोई बड़ा नुकसान हो जाए तब जीव घबरा जाता है, कि नहीं घबराता ? वैसे ही यहाँ भी मोहासक्ति के परिणामसे घबराहट उत्पन्न होती है। और ऐसी परिस्थिति हो जाने के कारण, एक मोक्ष के लिए ही यत्न करना, यह एक सहज उत्पन्न हुई परिस्थिति है।

अगर जीव अकुलाये तो इससे छूटने का प्रयत्न करे बिना रहे नहीं। वेभान दशा में भी किसी मनुष्य का मुँह बंद हो गया हो और खुलता न हो तो उसका नाक दबायें तो मुँह खुल जाता है। कारण कि श्वासोश्वास लेने का कोई दूसरा प्रकार नहीं है। नाकसे श्वास बन्द करो तो स्वतः ही मुँह खुल जाता है। वैसे ही मोहासक्ति के परिणाम से अकुलाहट हो तो उससे छूटने का सहज ही प्रयत्न हुए बिना रहे नहीं। देखो यह शुरुआत से (ही) सहजपने प्रयत्न होता है। यानी कृत्रिमता से नहीं होता है। शुरुआत ही सहजता से होती है। सहज ही यह प्रयत्न होता है।

अब यहाँ 'कृपालुदेव'ने 'मोक्ष' शब्द को अवतरण चिह्न में रखा है। 'एक 'मोक्ष' के लिए ही यत्न करना।' इसमें मोक्ष शब्द को अवतरण चिह्न में रखा है। अवतरण चिह्न करने के पीछे कोई खास बात का indication होता है। कुछ खास बात का निर्देश करना है। मात्र मोक्ष के लिए ही यत्न करना। धर्म के क्षेत्र में आये हुए जीव एकमात्र मोक्ष के लिए ही यत्न नहीं करते। साथ साथ संसारके कार्यो का प्रयत्न तथा पुरुषार्थ भी चालू रखते हैं।

दो घोड़ेकी सवारीसे निष्फल जाते हैं। फलतः धर्म के साधन निष्फल जाते हैं। जबकि यहाँ ऐसा प्रश्न होना योग्य है कि तो फिर संसार के सभी कामों को हम छोड़ दें ? और छोड़ देने से अगर हो जाता हो तो वह भी छोड़ दें। परन्तु ऐसे भी नहीं होता।

हमारे जीवन भी सब कुछ छोड़कर अनन्तबार जिन दीक्षा धारण की है। इससे जो काम हो जाता हो तो कभी का काम हो गया होता। यहाँ प्रकरण त्याग का नहीं चलता है। क्या छोड़ना यह प्रकरण नहीं है। यहाँ, यथार्थ मुमुक्षुता; निर्वाण पद का पाया कैसा होता है ? यह विषय चलता है। तो कहते हैं कि जिनका ध्येय पूर्ण शुद्धिका होता है, उसको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष किसको कहते हैं ? आत्मसिद्धिशास्त्र में इसकी व्याख्या की है। 'मोक्ष कहा निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ।' निज के परिणामों की परिपूर्ण शुद्धता होना - यह मोक्ष है। और उसके उपाय; पंथ माने उपाय, उसको 'मोक्षमार्ग' कहने में आता है।

'एक मोक्ष के लिए ही यत्न करना।' किसकी नींव डाली है ? मोक्ष की नींव रखी है। इसलिए मोक्ष के लिए ही यत्न करना। सम्यक्दर्शन का पाया नहीं है। मुनिदशा मोक्ष का पाया नहीं है। मुमुक्षुता - यह मोक्ष की दशा का पाया है। क्योंकि यह सभी तो साधक की अधूरी दशा है। और पाया बांधने के समय मकान की आखरी मंजिल का ही विचार करने का होता है। आखरी मंजिल तक पहुँचने तक यह पाया बराबर रहेगा की नहीं ? नहीं तो कितना बड़ा नुकसान आ पड़ेगा यह समझाने की जरूरत नहीं है।

अतः मुमुक्षु की भूमिका का जो प्रयत्न है, वह मोक्ष के लिए ही प्रयत्न है। जिससे उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है। अथवा निज का जो परम साध्य है, मोक्ष यह परम साध्य दशा है। और साध्य

दशा को लक्ष्य में रखकर जो प्रयत्न न हो तो उस परिणामको साधन भी किस प्रकार कहें ? क्यों कि वर्तमान परिणाम साधनभूत होता है। और उसको साधनभूत तभी ही गिन सकते हैं जब उसका अनुसंधान साध्य के साथमें हो। साधन-साध्य दोनों एक-दूसरेके अपेक्षित परिणाम हैं। साध्य के बिना कोई भी परिणामको साधन नहीं कह सकते। मुमुक्षुका साध्य है - वह मोक्ष है और वह मोक्षके लिए प्रयत्न करता है। अतः उसके प्रमाण में पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है।

बात वहाँ तक जाती है। मुमुक्षु की भूमिका का पुरुषार्थ है - वह मोक्षरूपी साध्यको लक्ष्य में रखकर होने के कारण उसके अनुपातमें पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है। जब तक ऐसा प्रमाण नहि बना रहता तब तक यथार्थ मुमुक्षुता नहीं है। यह एक बहुत विचारने जैसा विषय है। ऐसा नहीं है कि शास्त्र पढ़ ले इससे मुमुक्षुता हो जाए। या दया, दान कर लें इसलिए मुमुक्षुता हो जाय। या मंदिर बनवा लें इसलिए मुमुक्षु हो जाए। या उपवासादि तपश्चर्या, व्रतादि करें, या कोई क्रिया करें तो मुमुक्षुता आ जाती है। या दो-चार घण्टे भक्ति कर लें तो मुमुक्षुता आ जाती है, ऐसा कुछ नहीं है।

मोहसक्ति के परिणाम से अकुलाकर उससे छुटने का पूर्णशुद्धि के लक्ष्य से जो कुछ पुरुषार्थ चले, प्रयास चले तब यथार्थ मुमुक्षुता आती है। कोई भी कार्य में जो प्रयास है वह अंतिम लक्ष्य target ऊपर आधारित है। छोटा व्यापार करना हो। उसकी उतनी तैयारी नहीं होती है। परन्तु करोड़ों रूपया का involvement हो, उसकी तैयारी उसके प्रमाण में करनी पड़ती है। इसमें चाहे जैसे गफलत में रहे वह नहीं चलता है। हीरा का व्यापार साग-भाजी के जैसे नहीं होता है। साग-भाजी बिगड़े तो पच्चीस-पच्चास-सौ-दो सौ रूपये

का नुकसान होता है।

इस प्रकार मोक्षार्थीपना जो है, मुमुक्षुता है, वह मोक्षार्थीपना है। और इस मोक्षार्थीपना के परिणाम का व्यापार हीरा के व्यापार से अधिक कीमती है और अधिक सावधानी एवं बारीकी से करने योग्य है। समयसार की १७-१८ गाथा में भी कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने मोक्षार्थी शब्द का प्रयोग किया है। मागधी भाषा में 'मोखख कामेण' ऐसा शब्द है। जिसको मोक्ष की कामना है - ऐसा जीव भेदज्ञान का प्रयत्न करके, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मको प्राप्त कर सकता है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कौन प्राप्त करता है ? कि जो मोक्ष का मार्ग है और जिसका फल मोक्ष है। कि जो मोक्षार्थी होता है वह। आत्मार्थी शब्दका भी वहाँ प्रयोग नहीं किया। मोक्षार्थी शब्दका क्यों ? मुमुक्षु वह कहलाता है, जो मोक्षार्थी है। मोक्ष की इच्छावाले को ही मुमुक्षु कह सकते हैं, नहीं तो नाममात्र मुमुक्षु है। इस प्रकार से जिसका प्रयत्न चलता है, प्रयास शुरू होता है, उस जीवके परिणाम कैसे कैसे होते हैं, उसकी चर्चा अब बादमें करेंगे। इसके पहले ज्ञानदशा के लिए एक वाक्य लिखा है:

'और तीव्र मुमुक्षुता यह है कि अनन्य प्रेम से मोक्ष के मार्ग में प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना' तीव्र मुमुक्षुता माने ज्ञानदशा जो ज्ञानी है, मोक्षमार्गी है वह प्रतिक्षण क्षण-क्षण क्योंकि प्रति क्षण मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है, और अनन्य प्रेम से वह प्रवृत्ति करता है। ऐसी प्रवृत्ति करने में उसकी अत्यंत रुचि होती है। जबरदस्ती कोई कार्य करना है; सहन करते करते कार्य करना है, ऐसा मोक्ष का मार्ग नहीं है। स्वयं के अनंत आत्मलाभका व्यापार है कि जिसमें अनन्त लाभ की कमाई होनेवाली है। इसलिए जो उत्साहित होता है, जिसे स्वकार्य करने का बहुत उमंग है, ऐसा जीव अनन्य प्रेम से मोक्षमार्गमें

प्रवृत्ति करता है। यह ज्ञानदशा की बात है। इसकी चर्चा यहाँ करनी नहीं है - ऐसा कहते हैं। **‘तीव्र मुमुक्षुता’ के विषय में यहाँ कहना नहीं परंतु ‘मुमुक्षुता’ के विषय में कहना है।** मुमुक्षुता को भी अवतरण चिह्नमें लिया है, तीव्र मुमुक्षुदशा को भी अवतरण में लिया है। यहाँ खास बात करनी है। मोक्षमार्ग शुरू हो उसके पहले के परिणाम कैसे होते हैं कि जिस के कारण से मोक्षमार्ग की शुरुआत से लेकर मोक्षपद तक की सभी दशाएँ सहजमात्र में प्रकट हो, सहज प्रकट हो, अपने आप प्रकट हो, यह विषय यहाँ विचारना है।

‘मुमुक्षुता’ के विषय में कहना है कि वह उत्पन्न होने का लक्षण अपने दोष देखने में अपक्षपातता है और उस से स्वच्छंद का नाश होता है। वहाँ से शुरुआत होती है। जब जीव का ध्येय पूर्ण शुद्धि का होता है, मोक्ष का होता है तब उसके परिणामों की शुरुआत कहाँ से होती है। स्वयं के दोष देखने में और वह भी अपक्षपातपने से देखने में - जीव की यह प्रवृत्ति चालू होती है।

स्वयं का दोष देखना यह कोई शास्त्रवांचन नहीं है। स्वयं का दोष देखना यह कोई भगवान के नाम का जाप नहीं है, कि माला फेरने बैठ जाओ। यह कोई बाह्य धर्मक्रिया नहीं है, बाहर में किसी भी प्रकार की धर्मक्रिया नहीं है, शास्त्रवांचन की क्रिया भी इस में नहीं। यह ‘परिणमन का’ कार्य है। वांचन भी नहीं है, और विचार भी नहीं है। जब कि विचार साथ में होता है, परन्तु विचार रूप क्रिया नहीं है देखने की क्रिया है। विचार की क्रिया एक बात है और देखने की क्रिया बिलकुल ही दूसरी बात है। अतः यहाँ देखने की बात की है। **‘स्वयं का दोष देखना।’** विचार

में और देखने में अन्तर यह है कि स्वयं के दोष का विचार तो बहुतों को कभी कभी आता है अथवा दोष मिटाने के लिये जिस को कोई भी प्रकारका विचार चलता है, उसको भी स्वयं के दोष का विचार आता है। परंतु विचार एक बात है और देखना यह दूसरी बात है। जब कोई जीव देखता है तब वह चलते हुए दोष को देखता है, और जब विचार देखता है तब वह व्यतीत हुए - बीते हुए दोष को विचारता है। विचार का विषय प्रत्यक्ष नहीं है जब कि देखने का विषय प्रत्यक्ष है। चक्षुइन्द्रिय का दृष्टांत लें तो जो व्यक्ति सामने प्रत्यक्ष होता है, उसका विचार नहीं करना पडता, परंतु जो व्यक्ति परोक्ष होता है, उसका विचार आता है। विचार और देखने में यह अंतर है। यह विषय परिणमन का हुआ। परिणमन यानी कि विचारकक्षा से आगे बढ़ा हुआ एक कदम। मुमुक्षु की भूमिका में भी बाह्य क्रिया से आगे बढ़कर अन्तरविचार से भी आगे बढ़कर, देखने की क्रिया आती है। अतः यह आगे का विषय है। और यथार्थ मुमुक्षुता की यहाँ शुरुआत होती है। इतना ही नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि **'दोष देखने में अपक्षपातता है - यह मुमुक्षुता है।'** ऐसे शब्द का प्रयोग क्यों किया है ? यह बात क्यों की है ?

सामान्यतः किसी जीव को स्वयं का दोष ही दिखता नहीं है। जब भी उसको यह कहने में आता है कि आप ऐसी भूल कैसे करते हो ? तो तुरंत ही वह दूसरे के सिर पर डाल देता है। क्या करें संयोग ऐसे हैं, इसलिये ऐसा किये बिना चले ऐसा नहीं है। मैंने गुस्सा किया क्यों कि (उसने) मेरा अपमान किया। अपमान नहीं किया होता तो मुझे गुस्सा करने का कोई कारण ही नहीं था। गुस्सा करना यह मेरा दोष है, स्वतंत्रपने मेरा दोष

है। इस बात को स्वीकार करने के बदले दोष का आरोप दूसरे के ऊपर लेजाना। यह स्वयं के दोषका पक्षपात है। ऐसा पक्षपात जिसको मिट गया है, वह अपक्षपातता है, ऐसा कहना है। स्वयं के दोष का पक्षपात करना यह किसी जीव को सीखाना नहीं पडता। क्यों कि जीवकी अनादि से गुणदृष्टि प्रकट हुई नहीं और दोषदृष्टि चालू है।

जिसका जिसके ऊपर ममत्व होता है, वह उसका पक्ष करता है, फिर चाहे स्वयं का लडका हो या स्वयं का मित्र हो, या फिर स्वयंको जिसका विशेष पक्ष हो, (चाहे जो हो) उसका दोष नहीं है। जिस पर वह ममत्व करता है, उसके दोष का पक्ष करता है, तो स्वयं के दोष का पक्ष किये बिना रह ही नहीं सकता। यह अनादि से दोष दृष्टि होने के कारण सहजतासे जीव का उस प्रकारका अपराध होता है।

लेकिन सच्ची मुमुक्षुता की अभी शुरुआत ही जहाँ होती है, वहाँ गुणदृष्टि प्रकट होने की शुरुआत होती है। और यह गुणदृष्टि प्रकट करने की शुरुआत के कारण स्वयंके दोष देखने में पक्षपात नहीं होता। एकदम मध्यस्थ होकर स्वयं के दोष का अवलोकन करता है। कोई स्वयंका दोष दिखाये तो उसके प्रति उसको जरा भी दुःख नहीं लगता। दुःख तो नहीं लगता किन्तु बदले में वह दोष को दिखानेवाले के प्रति उपकार भावना व्यक्त करता है - 'वह उपकारी है जो बात हमको समझमें नहीं थी वह हमको दिखाई हमको बता दी।' ऐसे दोष देखने से, दोष के अवलोकन से सरलता भी उत्पन्न होती है, मध्यस्थता भी उत्पन्न होती है और नम्रता भी उत्पन्न होती है।

सत्संग करने की पद्धति अपने यहाँ ऐसी नहीं हुई है। ऐसी

पद्धति शुरू होनी चाहिये अथवा आवश्यक है। जिस में सत्संग करनेवाले अपने दोष प्रकट करें, व्यक्त करें। जो दोष अपने को नहीं समझमें आते उन्हें बताने के लिये अन्य सत्संगी से प्रार्थना करें। मेरे ऐसे भी दोष हो सकते हैं कि जो मेरी नजरमें नहीं आते हों ऐसे दोष आप जानते हों आपको जानने में आते हों तो अवश्यमेव मुझे इनको बतानेकी आप कृपा करना तो मैं आपका उपकार भूलूंगा नहीं। आप मेरे सच्चे शुभचिंतक हैं ऐसा मानूंगा। अगर दो मित्र हो और एक मित्र दूसरे मित्रको उसके दोष न बताये, न कहे तो वह वास्तव में मित्र नहीं, शत्रु है। मित्रता, यह कोई Flattering करने का - (झूठी) प्रशंसा करनेका व्यवसाय नहीं। मित्रता उसका नाम है कि जो हितकी इच्छा रखे, हितका चिंतन करे। जाननेके बावजूद भी वह न बताये तो वह मित्र नहीं है, मित्रके भेष में वह दुश्मन है, ऐसा समझना योग्य है।

यहाँ तो अपने दोष कोई मध्यस्थतापूर्वक अवलोकन करता है, तब उसका फल क्या आता है कि उसके कारण स्वच्छंद का नाश होता है। यहाँ स्वच्छंद माने क्या ? स्वच्छंद दो प्रकार से होता है। एक तो तीव्र रस से विषय कषाय के परिणाम होना। तीव्र रस से माने जिस पर Control न हो, कंट्रोल छूटकर जो तीव्र परिणाम होते हैं उसको स्वच्छंदरूप परिणाम कहने में आता है, यह एक प्रकार है। और दूसरा प्रकार है, ज्ञानी की आज्ञामें प्रवर्तमान नहीं होकर, अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करना उसको भी स्वच्छंद कहने में आता है। फिर चाहे कोई भी धर्मप्रवृत्ति हो। यह (उपरोक्त) स्वच्छंद मिटाने का एक रामबाण इलाज है। कैसा उपाय है ? रामबाण उपाय है। जो कभी निष्फल नहीं जाता। जिस प्रकार रामबाण कभी निष्फल नहीं जाता, इस प्रकार यह उपाय भी निष्फल

नहीं जाता।

जीव का कोई दोष होता है कि जो मुमुक्षुता का घातक दोष है। यह स्वच्छंद नाम का महादोष है और इस दोष को लेकर और बहुत सारे दोष पनपते हैं। **‘स्वच्छंद मत आग्रह तजी वर्त सदगुरु लक्ष’** (आत्मसिद्धि शास्त्र) स्वच्छंद मिटानेका सबसे सरल उपाय बाहर में, ज्ञानी पुरुष का अनुसरण करना, यह है। और अंदर में अपने दोषों का अवलोकन करना यह है। **‘मानसिक शत्रु महा निजछंद न मराय’** (आत्मसिद्धिशास्त्र) यह मान की प्रकृतिमें से उत्पन्न हुआ स्वच्छंद नाम का दोष है। वह अपने आप नहीं मरता, मारा नहीं जा सकता।

अगर चलते हुए परिणामों में अपने दोष का मध्यस्थतापूर्वक अपक्षपातपने से अवलोकन हो, तो उसी समय उस दोषके रस की degree, उस डिग्रीका पारा नीचे आये बिना रहे नहीं। यह विषय मात्र बौद्धिक स्तर से समझकर निर्णय करने लायक नहीं, पर अवलोकन करके अनुभव करने लायक विषय है। चलते हुए दोषको देखना, अवलोकना, अपक्षपातपने निष्पक्षपातपने अवलोकन हो, एकबार भी अगर सही हो तो ‘कृपालुदेव’ के इन वचनों की प्रतीति होगी कि वास्तवमें दोष मिटाने का यह रामबाण उपाय है। प्रयोग करना हो तो आज ही कर के देखो। तुरन्त समझ में आये ऐसी बात है। तथा प्रयोग से और अनुभव से जो बात समझ में आयेगी वह जीवनभर विस्मृत नहीं होगी। अनुभवज्ञान में सामर्थ्य बहुत है। दस सालकी उम्र में साइकिल चलाना सीखे इस बालक को टु व्हीलर पर बैलेन्स रखना आ गया। न इधर गिरे न उधर गिरे। वह पचास साल तक साइकिल न चलाये और साठवें वर्षमें साइकिल चलाये तो भी बैलेन्स रखना आये। दसवें साल में किताब पढी हो, उसे

पाँच साल न पढे तो भूल जायें कि क्या पढ़ा था ? क्या सीखा था ? इतिहासमें क्या आया था और भूगोल में क्या आया था, वह भूल जाये। याददास्त का विषय विस्मृत हो जाता है। अनुभवज्ञान का विषय विस्मृत नहीं होता। शास्त्र पढ़ा हुआ याद न रहे, पर अनुभवकी practise थोड़ी भी की हो तो उसका असर परिणाम पर बहुत गहरा होता है।

यहाँ मुमुक्षुता की practical side क्या है ? यह विषय 'कृपालुदेव'ने शुरू किया है। मुमुक्षुता की भूमिका में सबसे बड़ा जो स्वच्छंद नाम का महादोष है, जो मुमुक्षुता का घातक है, उसका नाश करने के लिए यह प्रयोग शुरू करना। यह Second Stage चलता है। पहले Stage में तो मोहासक्ति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करना। (एक ही प्रयत्न करना) दो प्रयत्न करना ऐसा नहीं। संसार के कार्य करने पड़े यह एक बात है। और भविष्य के ध्येय-पूर्वक रस आए, उत्साह आए इस प्रकार से करना दूसरी बात है। मुमुक्षु वह है जिसको संसार के कार्य करना नहीं है परन्तु करना पड़ता है। (और) वह खेदसहित करता है। करना पड़े - ऐसी परिस्थिति हो तो खेदसहित करता है और ऐसी परिस्थिति नहीं हो तो सहज मात्र में निवृत्ति ले लेता है और आत्म (कल्याण के) कार्य में लग जाता है।

ऐसे मोक्ष के ध्येयपूर्वक स्वयं का दोष अपक्षपातपने देखने में आता है तो तत्काल वह दोष मंद हुए बिना रहता नहीं है। इन दोनों प्रकार के Stage को दोनों भूमिकाको एक दूसरे दृष्टिकोण से विचारने जैसा है। जब कोई भी आत्मा मोक्ष का ध्येय बांधता है कि 'मुझे अब परिपूर्ण शुद्ध होना है। दोष का एक कण भी मेरे लिए कलंक रूप है', ऐसा जानकर उसका प्रयत्न जब शुरू

होता है। एक मोक्ष के लिए ही जब प्रयत्न शुरू होता है (तब) जीव का सबसे बड़ा प्रकृति दोष कि जो दर्शनमोह है - यह फिका पड़ता है। शास्त्रीयभाषा में ऐसा कहने में आता है कि दर्शनमोह का अनुभाग टूटता है, अथवा घटता है। अनुभाग यानी कि फलदान शक्ति, फल देनेकी शक्ति। **'कर्म अनन्त प्रकारना तेमां मुख्य आठ तेमां मुख्य मोहनीय हणाय ते कहुं पाठ...'** (आत्मसिद्धिशास्त्र) मोहनीय कर्म है वह सबसे मुख्य कर्म है। और **'कर्म मोहनीय भेद वे दर्शन चारित्र नाम।'** दर्शनमोह और चारित्रमोह नाम के दो भेद हैं। इसमें दर्शनमोह है यह अनन्त संसार परिभ्रमण करने का कारण है। चारित्रमोह - यह अनन्त संसार परिभ्रमण करने का कारण नहीं है। और एक परिस्थिति ऐसी विचित्र है कि चारित्रमोह का दोष अत्यन्त स्थूल होने के कारण सभी को समझ में आता है। दिखता है। जब कि दर्शनमोह का दोष (जो बड़ा दोष है) (वह) सूक्ष्म होने के कारण समझमें आता नहीं है। अतः सभी धर्मसंप्रदायमें तत्त्वदृष्टि के अभाव में, जैन-सम्प्रदाय में भी चारित्र के दोष घटाने का अनेक विधि-विधान चलता है, और परिणाममें दर्शनमोह बलवान होता जाता है। किस प्रकार से दर्शनमोह बलवान होता जाता है उसकी खबर भी रहती नहीं है, और धोखेमें 'मैं धर्म करता हूँ' ऐसा मानकर आयुष्य पूर्ण करता है।

'कृपालु देव' ज्ञानी के मार्ग का अनुसरण करनेको इसलिए कहते हैं (क्योंकि) ज्ञानी का मार्ग है वह दर्शनमोह तोड़ने से शुरू होता है। बड़ा दोष मिटाने के लिए जो कोई प्रयोग हो, तो वह ज्ञानी का मार्ग है। स्वयं इसी मार्ग पर चले हैं इसलिए ज्ञानी का मार्ग कहलाता है। ज्ञानी का मार्ग है वही जिनमार्ग है। दूसरा कोई जिनमार्ग नहीं है।

पू. श्री सौभाग्यभाई का जीवन दृष्टान्त इस विषय पर उपकारी होए - ऐसा है। उनके स्वर्गवास के बाद, उनके कुटुम्बियों के प्रति 'कृपालुदेव' ने जो पत्र लिखा (पत्र है ७८३) उस पत्र में उन्होंने सौभाग्यभाई को स्मरण किया है और उन्हें स्मरण करने में यह बात मुख्यतः स्पष्ट की है कि ज्ञानी के मार्ग पर चलने का उनका जो अद्भूत निश्चय था वह हमें ('कृपालु देव' को) बारम्बार स्मृति में आता है। पुस्तकर में पृष्ठ है ६१७ (हिन्दी) और ६०६ (गुजराति)। 'श्री सौभाग की मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानी के मार्ग के प्रति उनका अद्भूत निश्चय बारम्बार स्मृति में आया करता है।' यह बहुत बड़ा गुण था। सौभागभाई में यह सबसे बड़ा गुण था। ज्ञानी के मार्ग पर चलना जिससे स्वच्छन्द न हो। तथा इस विषय पर उनका निर्णय (पक्का) था। उसका प्रकार कैसा था ? अद्भूत था। साधारण नहीं था। यह आज्ञाकारिता नाम का बहुत बड़ा गुण था। अनेक प्रकार के दोषों से वचन के लिए यह सबसे सीधा से सीधा उपाय था। तथा उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उपाय था। एक अन्य पत्र में 'कृपालुदेव' बहुत स्पष्ट लिखते हैं कि अगर जीव आज्ञांकितपने सत्संग को उपासता नहीं है तो, ज्ञानीपुरुष अत्यन्त स्पष्टपने पारमार्थिक रहस्य को खोलते हैं, दर्शाते हैं, कहते हैं तो भी तब वह बात जीव की नजर में आती नहीं है। अथवा यह बात, उसके ध्यान में - लक्ष्य में आती नहीं है। ऐसा यह - (आज्ञांकितपना का) - एक बहुत बड़ा गुण है, इसका निर्देश ७८३ पत्र में किया है।

मुमुक्षुता का लक्षण यह है कि निज के दोष देखने में अपक्षपातता है। यह एक लक्षण, स्वयं में यह लक्षण उत्पन्न होकर कार्य करता है कि नहीं ? जिसका निर्णय करने योग्य है। चाहे जितने धर्म साधन हमलोग करते हों, पर अगर 'कृपालुदेव' के वचन हमारे

लिए 'आज्ञा है' ऐसा समझते हों तो, निज के दोष अपक्षपातपने देखने का कार्य हमारे में चलता है कि नहीं, यह मुमुक्षुता उत्पन्न हुई कि नहीं ? इसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं। (स्वयं में यह देख लेने जैसा है) यह मिलान करने जैसा है। नहीं तो मुमुक्षुता नहीं है - यह बात साबित करने की जरूरत भी नहीं है। क्यों कि निज के दोष तथारूप जागृति के बिना देखने का बन ही नहीं सकता है।

अधिकतर ऐसा बनता है कि जो कोई दोष होते हैं, वे व्यतीत हो जाने के बाद उनका विचार आता है, या ख्याल आता है। चलते हुए दोष को देखने के लिए तो जागृति चाहिए, तथा जितनी जागृति हो उतना दोष देखने में आए। तथा जितनी जागृति हो उतना ही कार्य हो सके, उससे ज्यादा नहीं हो सकता है। तथा दूसरी भाषा में कहें तो जितनी जागृति है उतनी ही मुमुक्षुता है। अगर उस प्रकार की जागृति बिल्कुल नहीं हो तो मुमुक्षुता भी बिलकुल नहीं है, ऐसा विचारने योग्य है। अतः सत् शास्त्र पढते हैं इसलिए मुमुक्षुता है, व्रतादि भक्ति-पूजा करते हैं इसलिए मुमुक्षुता है, दया-दान-व्रतादि करते हैं इसलिए मुमुक्षुता है - यह बात नहीं है।

यहाँ स्वयं के चलते हुए दोष देखने की जागृति आती है कि नहीं। इसमें भी दो प्रकार हैं। निज के दोष को देखनेवाला मोक्षार्थी होकर देखता है कि मोक्षार्थी हुए बिना देखता है। यहाँ 'कृपालुदेव' की आज्ञानुसार विचारने में आये तो मोक्षार्थी होकर यह कार्य होना चाहिए। तथा मोक्षार्थी बनकर इस प्रकार की अन्तर प्रवृत्ति अन्दर में हो तो यथार्थ होवे नहीं तो वह यथार्थ नहीं होती है। क्रम इसके लिए बोधा है। अगर क्रम से प्रवृत्ति होए तो वह यथार्थ होती है, और अक्रम से प्रवृत्ति होए तो वह अयथार्थ होने

के कारण निष्फल जाती है। अतः इस पत्र का हमलोगोंने कल (पिछले दिन) स्वाध्याय शुरू किया था तब इस विषय पर वजन दिया था।

इस पत्र में मुमुक्षुता का विषय प्रतिपादित किया है। इतना ही नहीं बहुत महत्व की बात है। क्रम से कार्य होना यह व्यवस्थित रूप से कार्य होने की कार्य पद्धति है कि जिससे वह कार्य सफल होता है। संसार का जो कोई भी कार्य है उसकी व्यवस्था है तभी वह कार्य बराबर होता है। तब जिसको पूरा संसार तरना है, इस कार्य का पाया जहाँ मुमुक्षुता है, उसके क्रम की कोई व्यवस्था न हो ऐसा कैसे बन सकता है ? इतना बड़ा कार्य है, जिसका फल निर्वाणपद है - उसकी व्यवस्था न हो सके ऐसा कैसे बन सकता है ? मकान के पाये के लिए भी Civil engineering (सिविल इन्जिनियरींग) चाहिए। इसके अन्दर कितने जन उतरे तब यह पाया नक्की होता है, आर्किटेक से लेकर इसके लोहके सलाये लगानेवाले तथा मिश्रण तैयार करनेवाला इन सभी technician की (निष्णातो की) जरूरत पड़ती है। तब तो यह मकान तैयार होता है। यहाँ तो १४ गुणस्थानक का महान कार्य करना है तब सिद्धपद पर पहुँचते हैं। यह कोई सामान्य कार्य नहीं है। स्वयंभूरमण समुद्र को बाहु बलसे तैरनी की बात है। तब इस विषय पर जरा भी बेदरकारी कैसे चले ? दरकार किये बिना यह कार्य कैसे हो ? जहाँ भी महत्त्वका कार्य होता है वहाँ अच्छे-अच्छे आदमियों के सर पर खड़े रहकर वह करवाना पड़ता है। यहाँ अगर कसर रह गई तब उपाधि का पार नहीं। ऐसे मुमुक्षुता में कसर रह जाए तो वह नहीं पोसायेगा। बाद की दशा में अपने आप कार्य हो जाने के कारण इतनी विडम्बना नहीं है, जितनी विडम्बना मुमुक्षुता शुरू

करने में है।

फिर से, यथार्थ मुमुक्षुता आने में जितनी विडम्बना है उतनी विडम्बना मोक्षमार्ग की प्राप्ति में नहीं, कि नहीं मोक्ष की प्राप्ति में भी। ऐसी बात है। क्योंकि जीव के परिभ्रमण में जो अनन्त काल गया अथवा जा रहा है, वह यथार्थ मुमुक्षुता के अभाव में जा रहा है। एक बार भी अगर यथार्थ मुमुक्षुता, सच्ची मुमुक्षुता आये तो निर्वाण पद की प्राप्ति अवश्य होती, होती और होती ही है इसमें कोई संदेह नहीं। और यह बात 'कृपालु देव' ने बहुत जगह की है।

अतः इस क्रम से अवलोकन के STAGE पर कोई आता है, तो अवश्य ही उसके स्वच्छंद का नाश होता, होता और होता ही है। **'स्वच्छंद की जहां थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहां उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है।'** कितनी अच्छी बात की है यहां...! जितनी स्वच्छंद की जीव में हानि होती है उतनी योग्यता आती है। इस योग्यता को लेकर आत्मज्ञान अथवा आत्मबोध, उसका बीज वहां बोया जा सकता है।

कोई भी अच्छा बीज बोने के लिये उसकी भूमि इस प्रकार की तैयार की जाती है, नहीं तो वह बीज बोया हुआ बेकार जाता है, दुनिया में यह प्रसिद्ध बात है। वैसे यहां भी आत्मज्ञान ही एकमात्र सर्वदुःख से और सर्वक्लेश से मुक्त होने का उपाय है - इसको आत्मबोध कहते हैं। और मुमुक्षुता में इसका बीज बोया जाय ऐसी भूमिका स्वच्छंद की पहले हानि हो, तभी होती है और इस स्वच्छंद की हानि स्वयं के दोष, अपक्षपातता से देखने में होती है। (और) यह मोक्ष के ध्येयपूर्वक की प्रवृत्ति होती है। इतनी SEQUENCE इसकी है। इतने क्रम से यह बात जाननी चाहिये तो अवश्य बोध

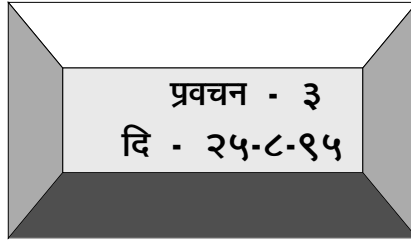
बीज योग्य भूमिका होती है।

बोधबीज क्या है ? आत्मज्ञान वह स्वसंवेदन रूप आत्मस्वरूप का अपरोक्ष, प्रत्यक्ष अनुभव है। जिसे ४८३ के छह पद के पत्र के सारांश 'कृपालु देव' ने विस्तार से लिया है। यह छह पदका जो पत्र है, उस पत्र का फल क्या ? प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव होना (वह छह पद के पत्र का फल है) इसको आत्मबोध कहते हैं, आत्मा का ज्ञान कहते हैं। और यह आत्मज्ञान प्राप्त हो ऐसा जो कोई मूलभूत कार्य होता है - बीजभूत कार्य होता है तो उस आत्मा की पहचान होना, आत्मा का निश्चय होना, आत्मा के मूल स्वरूप का प्रतिभास होना, उसको बोधबीज कहने में आता है। बीज में से मूल का अंकुर फूटता है, फल बादमें भले ही अंतमें आता है। परन्तु इस फल के आने के अंदर का मूल कारण, कोई शक्ति रूप कार्य हो तो वह मूल नहीं परन्तु बीज है। ऐसा मोक्षरूपी फल है इसका मूल भले ही सम्यक्दर्शन है, तो भी इसका बीज है वह स्वरूप की पहचान, स्वरूप का निश्चय है, जिसको यहां पदार्थ निर्णय कहा है। इस पत्रमें 'कृपालु देव' ने पदार्थ निर्णय ऐसे नाम से संबोधन किया है।

बोधबीज योग्य भूमिका है, (वह) पदार्थ निर्णय तक पहुँचना है। उसमें सबसे पहले स्वच्छंदकी हानि होना जरूरी है। वह यथार्थरूपसे अपने दोषके अवलोकन से होता है, दूसरे कोई प्रकारसे नहीं होता। यह एक (ही) मोक्षमार्ग तक - आत्मज्ञान तक पहुँचनेका नियत उपाय है। कैसा उपाय है ? यह नियत उपाय है। जैसे तीनों कालमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग वह नियत है, वैसे मोक्षमार्गका Approach (पहुँच) है वह भी नियत है। और किस प्रकारसे है, उसका विस्तार, 'कृपालुदेव' इस पत्रमें करते है। जब स्वच्छंद

हानिको प्राप्त हो, जितने अंशमें हानिको प्राप्त हो, उतने अंशमें तब आत्मस्वरूपका-पदार्थका निर्णय होनेकी बोधबीज योग्य भूमिका तैयार होती है। अभी समय पूरा होता है, विशेष बादमें.....





मुमुक्षुजीव पदार्थनिर्णय तक किस प्रकारसे पहुँचता है इस विषयका व्यवस्थित प्रकारसे निरूपण इस पत्रमें हुआ है। दो दिन स्वाध्याय चला है। संक्षेपमें उसका सार लेकर फिर विषय आगे लेंगे।

कोई भी धर्ममतमें मनुष्यको मुमुक्षुता प्राप्त होना यह जरूरी है। मुमुक्षुता विना आत्मज्ञान नहीं होता। इस मुमुक्षुताकी शुरुआत जो जीव मोहासक्ति के परिणाममें अकुलाकर एक मात्र मोक्षके लिये प्रयत्न करता है, मोक्षके लिये प्रयत्न करता है, मोक्षके लिये ही यत्न करता है, यानीकि पूर्णशुद्धिके ध्येयके कारण इसका परिणामन चालू हुआ है, वह परिणामन बहुत बलवान होता है तब उसकी मुमुक्षुताकी शुरुआत होती है। इसके पहले कोई भी धर्मसाधन करें तो भी वहाँ मुमुक्षुताकी शुरुआत नहीं होती। भले ही उस साधनको करते हुए सारी जिंदगी व्यतीत हो जाये, तो भी शुरुआत नहीं होती। अथवा कभी भी शुरुआत हुई हो अथवा इसके अलावा कभी भी शुरुआत हो चुकी हो ऐसा मानना ऐसा स्वीकारना यह भ्रम है। मुमुक्षुता की शुरुआत तो मोक्ष के ध्येयसे ही होती है - ऐसा सर्व ज्ञानी का अभिप्राय है। इतनी मुमुक्षुता आनेके बाद स्वतः अपने आप जीवके परिणाम निजके दोष अपक्षपातरूपसे देखनेमें काम करने

लगते हैं। ये परिणाम अपने आप काम करते हैं यह एक मापदंड है, जीवने मोक्षका ध्येय वा लक्ष बांधा है या नहीं यह मापनेका एक साधन है। जो स्वयंके दोष अपक्षपात रूपसे देखनेकी प्रवृत्ति चालू नहीं हुई हो तो मोक्षके लिए जीव प्रवृत्ति करता है, मोक्षका उसे लक्ष्य हुआ है, उसको मुक्त होना है, मुक्त होनेका निर्धार (उसने) किया है - यह बात नहीं रहती।

जब जीव निजके दोष देखनेमें अपक्षपातरूपसे - निष्पक्षरूपसे देखने लगता है तब इसके फलस्वरूपमें, जीवका जो स्वच्छंद है वह हानिको प्राप्त होता है, अथवा नाशको प्राप्त होता है। किसीकी थोड़ी हानि होती है किसीकी ज्यादा हानि होती है, किसीका नाश होता है। जितना जितना स्वच्छंद हानिको प्राप्त होता है वहीं उतना उतना बीजज्ञान होनेका कारण उत्पन्न हुआ। बीजज्ञान यानीकि स्वरूपकी पहचान या पदार्थका निर्णय अथवा पदार्थका भावभासन। जो सम्यक्दर्शनका अंगभूत कारण है, अनन्य कारण है। ७५९ पत्रमें तो इस बीजज्ञानको 'कृपालुदेव'ने दूसरा समकित कहा है। किसी भी जीवको सम्यक्दर्शनकी जो अवस्था है इसके पूर्वक्रममें नियमसे बीजज्ञानकी उत्पत्ति होती है। बीजज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले किसको भी सीधे ही आत्मज्ञान हो ऐसा नहीं बनता है। पात्रताके अलावा कोई भी ऊपरकी पर्याय है, कोई भी ऊपरकी दशा है वह नीचेकी पर्याय होने पर ही होती है, ऐसी अपेक्षित परिस्थिति है। पात्रता (जो) है इसके लिये कोई भी पूर्वपर्यायकी अपेक्षा नहीं है। संसारमें परिभ्रमण करता हुआ जीव कभी भी निज के आत्मकल्याण करनेके लिये उद्यमी हो, आत्मकल्याण करनेका निर्धार करे, परिभ्रमणसे छुटनेका निर्धार करे अंदरसे (निर्धार करे) ऊपर-ऊपर से नहीं, (तब) तत्काल उसको पात्रता प्रगट हो। बादमें इसी भावनासे, इसी

आत्मकल्याणकी भावनासे पात्रता वृद्धिगत होती है। और वह किस प्रकारसे वृद्धिगत होती है वही इस पत्रका विस्तार है।

पात्रताके बिना बीजज्ञान नहीं होता और बीजज्ञानके बिना आत्मज्ञान नहीं होता और आत्मज्ञान बिना मुनिदशा नहीं होती।

‘आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय;
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय।’

- आत्मसिद्धिशास्त्र

आत्मज्ञानके बिना मुनिपना नहीं होता, और मुनिपना बिना केवलज्ञान नहीं होता। सीधे ही किसीको केवलज्ञान हो ऐसा नहीं होता। दीक्षा लें इसलिये मुनिपना आये, ध्यान लगाये इसलिये आत्मध्यान हो और आत्मज्ञान हो ऐसा कभी नहीं बनता।

इस क्रमसे, यह ज्ञानीका मार्ग है। ज्ञानीका बोध किया हुआ मार्ग है, ज्ञानीका अनुभव किया हुआ मार्ग है। अब यहाँसे आगे लेते हैं।

‘स्वच्छंद जहाँ प्रायः दब गया है, वहाँ फिर मार्गप्राप्तिको रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं, ऐसा हम जानते हैं।’ क्या कहा ? स्वच्छंद हानिको प्राप्त होनेके बाद ही नीचे कहे हुए ऐसे जो तीन कारण हैं वे भी मार्गप्राप्ति यानीकि सम्यक्दर्शन - सम्यक्दर्शन है वहाँ सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साथमें होता है। और इन तीनोंकी एकता वही मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्गकी प्राप्तिको रोकनेवाले, अवरोध करनेवाले वे तीन कारण प्रायः मुमुक्षुजीवको होते हैं जब तक उसे मार्गप्राप्ति नहीं होती।

उन तीन कारणोंमें से पहला कारण लिया ‘इस लोक की

अल्प भी सुखेच्छा' दूसरा कारण लिया है 'परम दैन्यका अभाव' परम दैन्यत्व कहो या परम विनय कहो। दैन्यता यानीकि दीनपना, दीनपना का मतलब यहाँ दीनवृत्तिकी बात नहीं है। लेकिन विनयवृत्तिकी बात है। संसारमें जो दीनपना होता है वह तो जीवको दुःखके कारणसे होता है; अथवा तो खुदको किसीका आधार ढूँढना हो तब दीनपना आता है; अथवा तो साधन नहीं हो तो साधनकी अपेक्षासे, पदार्थकी अपेक्षासे दीनपना आता है; अथवा तो दरिद्रता हो तो बहुभाग दीनपनेकी वृत्ति होती है। उस दीनपना का यहाँ प्रकार नहीं लेना है।

यहाँ तो ज्ञानी पुरुषके प्रतिका जो विनय है, उस प्रकारसे जो दीनपना है - उस परम विनयका होना जरूरी है। विनयमात्र नहीं, सामान्य विनय नहीं। विरोधका तो सवाल नहीं है (बल्कि) विनय भी सामान्य नहीं - 'परम विनय' सम्पूर्ण विनय, अधूरा नहीं। उसमें कमी हो तो मार्गप्राप्ति नहीं होती है।

और तीसरा कारण लिया है 'पदार्थका अनिर्णय' (पदार्थका अनिर्णय) यानी कि आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं होना, पहचान नहीं होना, भावभासन नहीं होना। ऐसा जो प्रकार है वह भी मार्गप्राप्तिमें बाधक कारण है अथवा वहाँ तक मार्ग प्राप्ति नहीं होती है।

यह तीन कारण बताये इस प्रकारके परिणाम जब तक जीवमें विद्यमान रहते हैं तब तक उसे सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप ऐसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती। ऐसा हम जानते हैं। ऐसा हमारा अनुभव बोलता है। मुमुक्षुजीवको मोक्षमार्ग तक या पदार्थनिर्णय तक पहुँचानेके लिये इतना स्पष्टरूप से स्पष्टीकरण अन्य शास्त्रोंमें तो अभी तक देखनेमें नहीं आया है। 'कृपालुदेव'के वचनमृत जो कि शास्त्र है, इस शास्त्रमें मुमुक्षुकी भूमिका सैंकड़ों में सलाह सूचना, मार्गदर्शन,

स्पष्टीकरण मिलता है। इस प्रकारका इतना मार्गदर्शन अन्य ग्रंथमें आज उपलब्ध नहीं है। बहुभाग ग्रंथ प्राचीनकालमें लिखे गये हैं। शायद उस वक्त मुमुक्षुओंको इतनी हद तक समझानेकी आवश्यकता उन उन ज्ञानीपुरुष, महात्माओंको इतनी हद तक समझानेकी आवश्यकता उन उन ज्ञानीपुरुष, महात्माओंको नहीं लगी होगी। लेकिन 'कृपालुदेव' के संपर्कमें आये हुए सौ-एक साल पहलेके मुमुक्षुओंको यथार्थ मार्गदर्शन इन पत्रों से मिला है और उसके बाद तो हीन उतरता हुआ काल आया है। अतः ये पत्र वर्तमान के मुमुक्षुओं के लिए अमृत समान है। जितना प्रयोजनभूत मार्गदर्शन 'कृपालुदेव'के वचनों में मिलता है, उतना दूसरी कोई जगह उपलब्ध नहीं है। यह मुमुक्षुताकी भूमिकाका मार्गदर्शन है और बहुत व्यवस्थित मार्गदर्शन है।

'इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे।' नीचे कहेंगे। नीचे कहाँ कहा है, वह देखना हो तो 'अधिक क्या कहें' इसके ऊपरकी पंक्तिमें है। 'और इन तीनोंका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण है।'

ज्ञानीपुरुष मेरे आत्मके लिये तिरनेका परम कारण है, एकमात्र कारण है, ऐसा समझमें आनेके बाद, उनका स्वरूप पहचानने के बाद, उनके प्रति परमप्रेम - अनंतप्रेम आता है। यह आत्माके प्रतिका प्रेम है। ज्ञानीपुरुषके प्रतिका प्रेम यह आत्माके प्रतिका प्रेम है। और यह परमप्रेम आता है, तब इन तीन कारणोंके मिटनेका बीज ऐसी योग्यतारूप कारण वह उस मुमुक्षु जीवमें उत्पन्न होता है।

प्रश्न : यहाँ ज्ञानीपुरुष, वह प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष लेना कि परोक्ष ज्ञानीपुरुष लेना ?

समाधान : हाँ (प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष लेना।) पहचान तो परोक्षकी

कभी हो सकती ही नहीं। पहचान प्रत्यक्षकी ही होती है। क्योंकि पहचानके लिये परिचय चाहिये। पहचानके बिना बहुमान नहीं होता। और पहचान वह परिचयके बिना नहीं होता है और परिचय प्रत्यक्षके बिना संभवित नहीं होता। अतः (प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष लेना।)

‘इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे। इससे पहले इन्हीं कारणोंको अधिकतासे कहते हैं।’ इन्हीं कारणोंको थोड़े विस्तारसे दर्शाया है। पहला कारण है **‘इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा।’** यह जो कारण है वह अभिप्राय प्रधानतासे है, आचरण प्रधानतासे नहीं। चारित्र प्रधानतासे नहीं। क्योंकि विषय मुमुक्षुकी भूमिकाका चल रहा है। मुमुक्षुकी भूमिका वह अभिप्रायको बदलनेकी भूमिका है। जितने भी विपरीत अभिप्राय (Misconcepts) होते हैं वे मुमुक्षुकी भूमिकामें बदलते हैं और यथार्थतामें आ जाते हैं।

जब तक अभिप्रायकी भूल नहीं सुधरती है तब तक परिणमनमें यथार्थ सुधार नहीं होता। अयथार्थ सुधार वह कोई सुधार नहीं होता।

वह तो भ्रम होनेका कारण है। अतः इस लोकके कोई भी पदार्थके प्रति अल्प भी सुखकी अपेक्षा, इच्छा अर्थात् अपेक्षा, इच्छा अर्थात् आशा महत्वाकांक्षाओंका तो यहाँ कोई विचार करनेका ही नहीं है। जगतके पदार्थोंकी महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती है उसकी तो चर्चा करनेकी यहाँ जरूरत ही नहीं है। परन्तु आशा-अपेक्षा अल्प भी रहे, वहाँ तक इस जीवको मोक्षकी प्राप्तिमें अवरोध खड़ा है, ऐसा समझने योग्य है। कैसे ? वह (आशा-अपेक्षा) सुखबुद्धिपूर्वक होती है। अभिप्राय जो है वह सुखबुद्धि को सुचित करता है। और जब तक परपदार्थमें, कोई भी परपदार्थमें सुखबुद्धि होती है, वहाँ तक आत्मामें सुख है ऐसी बुद्धि अर्थात् ऐसा निर्णय, पदार्थ निर्णय (जिसको ‘कृपालुदेव’ कहते हैं), वह उत्पन्न नहीं होता है। दो विरुद्ध

निर्णय अथवा दो विरुद्ध अभिप्राय कभी भी किसी भी जीवको एकसाथ हो नहीं सकते हैं। या अभिप्राय 'हाँ' में आयेगा, या अभिप्राय 'ना' में आयेगा। Yes or No के अलावा दूसरी कोई भी प्रकारकी स्थिति नहीं होती है। पचास प्रतिशत मेरा अभिप्राय ऐसा है कि कितने ही पदार्थमें अथवा अनुकूलतामें सुख है और पचास प्रतिशत अभिप्राय ऐसा भी है कि कितने ही पदार्थमें अथवा अनुकूलतामें सुख है और पचास प्रतिशत अभिप्राय ऐसा भी है कि आत्मामें भी सुख है, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता है। उसमें अमुक प्रतिशतका सवाल नहीं होता है। अतः 'कृपालुदेवने शब्दका प्रयोग किया है 'अल्प भी सुखेच्छाका अभाव।' अल्प भी आशाका न होना। क्योंकि आशा-इच्छा-अपेक्षा (हंमेशा) सुखबुद्धि पूर्वक की (ही) होती है। आत्मामें भी सुखबुद्धि हो और परपदार्थमें भी सुखबुद्धि हो, ऐसा एकसाथ नहीं बनता। अनादिसे पुद्गल पदार्थोंमें, पुद्गल पर्यायोंमें जीवकी सुखबुद्धि है, जो कल्पनामात्र है। क्योंकि कोईभी परमाणुमें कोई भी प्रकारकी अवस्था उत्पन्न होती है, तो भी उसमें सुखरहितपना, सुखका अभाव हंमेशा हंमेशा होता है। क्योंकि सुखगुण जड़ परमाणुमें नहीं होता तो उन जड़ परमाणुमें गुण बिना सुखकी पर्याय हो ऐसा किस प्रकारसे बन सकता है ? जड़ परमाणु में कभी भी सुख नहीं होता है। जब तक जड़ परमाणुमें सुखबुद्धि है तब तक जीव न तो जड़ के स्वरूपको सच्चा समझा है, और न ही जीवनके स्वरूपको जीवने सच्चा समझा है। दो में से एक भी बराबर समझा नहीं है।

जब जीवको आत्मामें (स्वयंमें) सुख है ऐसा प्रतिभासित होता (है), पदार्थ निर्णयके कालमें पहचान होती है, तब सुखकी पहचान साथ ही साथ होती है। एक बात जरूर है (कि) जगतके सभी

जीवोंको सुखकी ही आवश्यकता है। और सभीका प्रयत्न सुखके लिये ही है। अभी हमलोग घर छोड़कर यहाँ आये हैं वह भी सुखके लिये और यहाँ बैठनेके बाद पैर हिलानेका विकल्प आये वह भी सुख के लिये। ऐसे नहीं और ऐसे बैठना है। आधे घंटेके बाध ठीक नहीं लगता। कोई भी छोटी से छोटी या बड़ी से बड़ी प्रवृत्तिके पीछे, (आरामदायक) जीवका सुखस्वभाव होनेके कारण, वह सुख ही चाहता है। और सुखके लिये ही उसका प्रयत्न होता है। तकलीफ इस बातकी है कि सुख कहाँ है ? और सुख कैसा है ? उस बातसे यह अनभिज्ञ है। उस संबंधित जो कुछ जगतवासी जीवोंका निर्णय है, ऐसा निर्णय स्वयंका भी अनादिसे है। ऐसा स्वीकार होनेसे जगतके जीव जीस प्रकारसे सुख जुटाने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही हरएक जीव सुख जुटानेका प्रयत्न करता है।

अनेक अनुकूलताओंके साधनोंकी खोज हुई, और उन साधनोंको बसानेके बाद ऐसी परिस्थिति खड़ी हुई कि, सुखका अभाव, सुख रहितपना, वैसे का वैसा ही खड़ा रहा। देवलोकके देवगण भी; यहाँ ऐसी (देवलोक जैसी) सुविधा नहीं है; (परन्तु) जहाँ दैवीय संपत्ति है वे लोग भी - जीव भी सुखके लिये हमेशा प्रयत्नवान रहते हैं, क्योंकि उन जड़ संपत्तिमें उनको भी वहाँ सुखकी प्राप्ति हुई नहीं, अथवा होती ही नहीं है। इस सुखके लिये प्रयत्न - यह सुचित करता है कि सुख मिला नहीं। (और अगर) मिला होता तो प्राप्त करनेके लिये प्रयास चालू नहीं रहता।

अतः पदार्थनिर्णय तक पहुंचना है। वहाँ यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है कि सुख कहाँ लगता है ? (माना है ?) सुख और दुःख यह दोनों अवस्था अनुभवसे समझमें आती हैं। विचार से समझनेका यह विषय नहीं है। तत्त्वज्ञानके अभ्यास द्वारा अथवा सत्संगके योगसे

सुख कैसा होता है, दुःख कैसा होता है, इसे समझनेका हमलोग प्रयत्न करते हैं, परन्तु सुख और दुःख यह समझनेका विषय नहीं (परन्तु) अनुभव करके समझने का विषय है। ऐसे ही समझनेका विषय नहीं है। अनुभवपूर्वक समझनेका विषय है। क्योंकि यह दोनों दशा अनुभवके बिना वास्तवमें समझमें नहीं आती हैं। दृष्टान्त यह है कि खानेकी चीज चखनेसे समझमें आती है। देखने या सुननेसे समझमें नहीं आती है। काला जामन कडवा ही हो ऐसा नहीं है मीठे भी होते हैं और खट्टे भी होते हैं। चखे बिना यह कैसे समझमें आये! जैसे खाद्य पदार्थ चखनेसे समझनेमें आते हैं, उसके स्वादके अनुभवपूर्वक समझमें आता है वैसे ही सुख और दुःख अनुभवसे समझनेका विषय है। मात्र व्याख्यासे, परिभाषासे, तर्क या अनुमानसे, न्यायसे या आगमसे उसका विचार करे, जिससे समझमें आ जाय कि ऐसा यह विषय नहीं है। प्रयोजनका विषय अनुभवप्रधान विषय है। सुखका प्रयोजन है वह अनुभवप्रधान विषय है। उसे अनुभवसे समझना रहा।

आत्मामें ९९ प्रतिशत सुख है कि एक प्रतिशत सुख है ? जड़में ९९ प्रतिशत सुख है कि एक प्रतिशत सुख है ? जड़ परमाणु में पूरा का पूरा सौ प्रतिशत सुख नहीं है और सो का सौ प्रतिशत सुख (सिर्फ) आत्मा में है। जब तक ऐसा निर्धार नहीं होता है, तब तक उल्टा निर्णय उल्टी प्रवृत्ति करायेगा। उल्टा निर्णय क्या करायेगा ? उल्टी प्रवृत्ति (ही) करायेगा। और वह जीव को दुःख का कारण होगा।

‘सुख प्राप्त करते ही सुख टलता है’ (‘अमूल्य तत्त्वविचार’ काव्य) ऐसा कैसे कहा ? सुख का निर्धार विपरीत है, झूठा है। उसको (सुखको) प्राप्त करने जाएं तो उल्टा सुख दूर होता है और दुःख

की प्राप्ति होती है। सुख प्राप्त करने से सुख दूर होता है। अथवा एसा कहो कि सुख प्राप्त करनेसे दुःख मिलता है। यहाँ अभिप्राय की प्रधानता से बात है। नहीं तो सुख की वांछा, बाह्य पदार्थोंमें - वह आचरम प्रधानतासे है, यह तो पांचवें गुणस्थान तक थोड़ी-बहुत मात्रामें रहता है। परन्तु सुखबुद्धिका अभिप्राय तो मुमुक्षुकी भूमिकामें ही बदलता है। बदला जाता है, फिर ज्ञानदशा की उत्पत्ति होती है।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, यह बहुत करके तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होने के पहले तक होती है। तीव्र मुमुक्षा अर्थात् ज्ञानदशा। आगे यह बात आ चूकी है। तीव्र मुमुक्षुता किसको कहना ? जब तक ज्ञानदशा उत्पन्न नहीं होती तब तक बहुत करके इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा यानी उस प्रकारका अभिप्राय होता है। उस अभिप्रायका मंद पड़ना मुमुक्षुताके प्रारंभसे होता है। वह अभिप्राय ठीला पडता है, शिथिल पड़ता है। ऐसा फेरफार होता है, और जब मोक्षके लिये यत्न करनेकी भूमिकामें आता है, तब से उनके अभिप्रायमें फर्क पडता है फर्क पडने लगता है। मोक्षका लक्ष बांधते ही उस अभिप्रायमें फर्क पड़ जाता है, क्योंकि उनका प्रयत्न (अब) जगतके सुखके लिये नहीं है, बल्कि गुणसे उत्पन्न होते हुए सुखके लिये होता है। वहाँसे अभिप्राय बदलता है। उस अभिप्राय के होनेका कारण, वह अभिप्राय कैसे रहता है उसका कारण है, निःशंकरूपसे 'बह सत् है' ऐसा दृढ हुआ नहीं। बह अर्थात् आत्मा। सत् यानी (कि) निजका आत्मस्वरूप। निजका जो आत्मस्वरूप है वह सत् है ऐसा दृढ हुआ नहीं। यहाँ सत् माने क्या ? सत् है वह अस्तित्वको दर्शानेवाला पद है। सत् अर्थात् मौजूदगी। कैसी मौजूदगी ? निरालंब, निरपेक्ष ऐसा मेरा आत्मस्वरूप, वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे विचारने जैसा

विषय अभी अपने सामने है।

सुखबुद्धि और आधारबुद्धि के कारण जीवको सभी प्रकारके संसारके परिणाम चालू हैं। तलाश करके देखो। जो कोई संसार सम्बन्धित परिणाम चालू है उसके अभिप्रायमें मुख्य दो Factor (पहलू) रहे हैं, एक सुखबुद्धि और इस सुखबुद्धिके कारण उत्पन्न हुई आधारबुद्धि। तो कृपालुदेवने सुखबुद्धिको समझानेके लिये उसके फलकी बात उठाई है। इस जीवको आधारबुद्धि परपदार्थमें है। शरीरके बिना मैं जिंदा नहीं रह सकता। शरीर छूटनेका काल पूरा होगा अथवा आयु पूर्ण होगा तब मैं मर जाऊँगा, अतः मैं शरीरके आधारसे जीता हूँ। इस शरीरमें श्वासोश्वास चलता है, अतः इस श्वासोश्वासके आधारसे मैं जीता हूँ। बादमें तो जंजाल बहुत लंबा है। मुझे हवा-पानी-खोराक जुटानेके साधन - पैसे, प्रवृत्ति, दूकान, धंधा-व्यापार, कुटुम्ब-परिवार इत्यादि बहुत बड़ी परंपरा इसके पीछे लगी हुई है। मूलमें सुख पर-पदार्थमें है और जिससे उसके आधारसे मेरा जीवन है ऐसी सुखबुद्धि और आधारबुद्धि है। इन दो अभिप्रायके कारणोंसे यह जीव संसार परिभ्रमणके और अधोगतिमें जानेके सभी परिणाम करता है। अतः यहाँ सुखबुद्धि समझानेके लिये इस सत्की बात ली है। बात तो दोनों लेंगे।

पहली बात आधारबुद्धिकी ली है। स्वयंका आत्मा सत् है ऐसा निःशंकरूपसे दृढ़ हुआ नहीं। किसीके बिना भी अभी ही मैं परिपूर्ण हूँ; शाश्वत हूँ; और मेरा शाश्वतपना अबाधितरूप है; अव्याबाधरूप है; ऐसी निःशंकता आत्माके प्रति जब तक नहीं आती; तब तक अनादिकी आधारबुद्धि है, वह मिटती नहीं, छूटती नहीं। और आधारबुद्धि मिटती नहीं, छूटती नहीं तो, सुखबुद्धि मिटती नहीं, छूटती नहीं है। क्योंकि यह मूलमें रही हुई बात है। इसलिए सर्वप्रथम

आत्माकी मौजूदगी, और वह भी दो प्रकारसे कि मेरा स्वरूप निरालंब-निरपेक्ष है। किसीके कारणसे मैं टिकता हूँ, निर्भर हूँ, जीता हूँ, ऐसा मूलमें, वस्तुके स्वरूपमें ही नहीं है। अस्तित्वसे ले तो जीवमें जो अनंत शक्ति हैं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र अस्तित्व आदि; उन अनंत शक्तिओंमें एक जीवत्व शक्ति है, यह पहली है। आचार्य महाराजने इसे पहला नंबर दिया है। समयसारमें ४७ शक्तिओंमें जीवत्वशक्तिको पहला नंबर दिया है। और ज्ञान-दर्शनको उसका प्राण बताया है। हवा, पानी, खुराकको प्राण नहीं बताया। श्वासोश्वासको प्राण नहीं बताया। देखो, ऐसा होता तो सिद्धालयमें कोई भी सिद्ध जीवका अस्तित्व ही नहीं रहता। परन्तु वहाँ शरीर नहीं है, और शरीरको टिकानेके साधनका आधारभूत कोई परमाणु भी वहाँ नहीं है। सिद्धपरमात्माएं, मुक्त आत्माएं, अशरीररूपसे सादि अनंतकाल तक बिराजमान रहते हैं इसलिए निःशंकरूपसे निजका निरपेक्ष अस्तित्व, जब तक निर्णयमें नहीं आता तब तक आधारबुद्धि मिटती नहीं है। परपदार्थकी आधारबुद्धि है वह छूटती नहीं, वह मिटती नहीं। और जब तक यह आधारबुद्धि होती है तब तक परपदार्थोंके परिणामोंसे पिछे मुड़नेका कोई अवकाश खड़ा नहीं होता। यानी कि परपदार्थसे परिणाम मुड़कर कोई अवकाश खड़ा नहीं होता। यानी कि परपदार्थसे परिणाम मुड़कर स्वपदार्थ तरफ (खुदके तरफ आत्मा) अंतरमुख हो ऐसी कोई स्थिति, ऐसा कोई अवसर आ नहीं सकता। मुख्यतः नींवकी यह बात है।

मुमुक्षुता किस लिये सिद्धपदकी नींव है वह समझ में आये ऐसी बात है। सिद्ध आत्माएँ कोनसी नींव पर बिराजमान हैं, वह यहाँसे समझ सके ऐसी बात है। मुमुक्षुतामें वह निःशंक निर्णय होना चाहिये। यह आत्मा सत् है और परमानंदरूप है। दूसरा पद वह

लिया है 'उसका होनेके कारण ये है - निःशंकतासे यह 'सत्' है ऐसा दृढ नहीं हुआ है, अथवा यह 'परमानंदरूप ही है ऐसा भी निश्चय नहीं है' यह निश्चयप्रधानतासे अभिप्राय प्रधानताकी बात है। आत्मा सत् परमानंदरूप है ऐसा निःशंक निर्णय जब तक नहीं हो, ऐसा भावभासन नहीं हो, तब तक जीव स्वरूपसन्मुख नहीं हो सकता, और उसकी परसन्मुखता मिटती नहीं है। फिरसे, इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा ऐसा जो अभिप्राय, वह बहुत करके तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेके पहले होता है। तीव्र मुमुक्षुता पदार्थनिर्णयके बादकी भूमिकाको भी ले सकते हैं, क्योंकि पदार्थनिर्णयके बादमें इस प्रकारकी भूल नहीं रहती है।

पत्रांक ५३६ (श्रीमद् राजचंद्र वचनामृतजी) 'दो प्रकारकी दशा मुमुक्षुजीवको वर्तती है, एक 'विचारदशा' और दूसरी 'स्थितप्रज्ञदशा'। स्थितप्रज्ञदशा विचारदशा लगभग पूरी होनेके बाद या संपूर्ण होनेके बाद प्रगट होती है। वह स्थितप्रज्ञदशाकी प्राप्ति इस कालमें कठिन है, क्योंकि आत्मपरिणामको व्याघातरूप योग इस कालमें प्रधानतारूपसे वर्तता है, और इसलिये विचारदशाका योग भी सद्गुरु, सत्संग के अंतरायसे प्राप्त नहीं होता, ऐसे कालमें कृष्णदास विचारदशाकी इच्छा करते हैं, वह विचारदशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है, और ऐसे जीवको भय, चिंता, पराभवादि भावमें निजबुद्धि करना उचित नहीं है, तो भी धीरजसे उन्हें समाधान होने देना, और निर्भय चित्त रखवाना योग्य है।'

विचारदशा पूरी होनेके बाद स्थितप्रज्ञदशा ली है। स्थितप्रज्ञ शब्द वेदांतकी परिभाषामें मुख्यरूपसे प्रयोग होता है, गीतामें भी उसका उल्लेख है। स्थितप्रज्ञके बारेमें दूसरे अध्यायमें विषय चला है। जिनकी प्रज्ञा परब्रह्ममें स्थित हो, उन्हें स्थितप्रज्ञ कहते हैं। वहाँका विषय

अध्यात्मका चला है क्योंकि सांख्य योग है। सांख्यका अभिप्राय माने त्रिकाली शुद्ध आत्माका अभिप्राय, सम्यक्दर्शनके विषयका अभिप्राय।

चलते हुए प्रकरणमें जीवको परपदार्थमें सुखबुद्धि होनेका कारण निजपदार्थमें सुखबुद्धि और निरपेक्ष अस्तित्व का निःशंक निर्णय नहीं हुआ - वह है। क्या कहा ? मेरा आत्मा अनंत सुखसे, अनंत आनंदसे, परम आनंदसे, परम सुखसे भरा हुआ है। और उसे किसीके अवलंबन और आधार की जरूरत नहीं है। वह स्वयं ही स्वतंत्र सत् है, परमआनंदरूप अनादि अनंत रहनेवाला वह परमसत् स्वयं स्वतः है। ऐसा निर्णय जब तक नहीं हुआ अथवा पदार्थकी पहचानपूर्वक ऐसा निश्चय नहीं हुआ, तब तक जीवकी अनादिकी परपदार्थमें सुखबुद्धिके कारण उसकी आशा और अपेक्षा रहा ही करे, मिटे नहीं। वह स्थिति अनिवार्य है।

निद्रामें सुख नहीं है बल्कि सुखाभास है। क्योंकि जो स्वाभाविक सुख होता है उसमें थकान नहीं लगती। अस्वाभाविक अथवा कृत्रिम सुख होता है उसमें थकान लगती है। उसका यह दूसरा एक लक्षण है। जैसे हम चलते-चलते थक गये, क्योंकि चलनेकी स्थिति स्वाभाविक नहीं है इसलिये बैठ गये। बैठे-बैठे थक गये इसलिये सो गये। क्योंकि बैठनेकी स्थिति हमारी स्वाभाविक नहीं है। सोते-सोते हम थक गये तो वापिस बैठ गये क्योंकि सोनेकी स्थिति भी हमारी स्वाभाविक नहीं है। शरीरकी जो स्वाभाविक स्थिति है वह श्वासोच्छ्वास की है, क्योंकि वह उसके प्राण हैं, श्वासोच्छ्वासमें थकान नहीं लगती। वह चौबीस घंटे चलते हैं। उठना-बैठना चौबीस घंटे नहीं कर सकते, लेकिन श्वासोच्छ्वास चौबीस घंटे चलते हैं। हार्ट (हृदय) चौबीस घंटे चलता है, रक्तका परिभ्रमण चौबीस घंटे चलता और वे चलें उतना ही नहीं, चलते ही रहना चाहिये। बंद

करें तो और भी मुसीबत हो जाये क्योंकि वह स्वाभाविक है। वैसे नींद वह स्वाभाविक सुख नहीं है। उससे भी जीव थक जाता है। सोते सोते भी थक जाता है इसलिये वह स्वाभाविक सुख नहीं है। इसलिये वहाँ (नींदमें) दूसरे विषय-कषायके परिणामकी प्रवृत्ति नहीं होनेके कारण, कषायकी तीव्रताका वहाँ दुःख नहीं है, बल्कि कषायकी मंदताका दुःख अवश्य है। सो गया है इसलिये जीव निष्कषाय हो गया है; कषायका अभाव हो गया है, ऐसा तो नहीं कह सकते। और जहाँ कषायका सद्भाव रहा है, वहाँ आकुलता और दुःखका सद्भाव है वह साबित करनेकी जरूरत नहीं है।

निद्रामें सुखका भ्रम, सुख नहीं बल्कि सुखका भ्रम है। भ्रमवाली दशा तो कल्पित दशा है। उस निद्रामें कहीं भी जीवको सुख नहीं है (परन्तु सुखका भ्रम है।) निद्रामें दूसरे पदार्थके अभावमें दुःख कारण कि शरीराश्रित बुद्धि वहाँ है। कारण कि अगर मैं सो जाऊँ तो मुझे सुख होगा, और मेरे शरीरकी शांति या शांता रहेगी, उस प्रकारकी सुखबुद्धि तो वहाँ है। शरीरमें पाँचों इन्द्रियाँ आ जाती हैं। कौनसी इन्द्रिय बाकी रही ? वह शरीरकी सुखबुद्धि है। एक इन्द्रिय नहीं बल्कि पाँचों इन्द्रियोंका जोड़ वहाँ है। निद्रामें सुखाभास है। कहीं पर ज्ञानीने वह बात ली है, तो भी वह बात वहाँ दृष्टांतके रूपमें है। सिद्धांत रूपमें नहीं है। जैसे कि सोनेका दृष्टांत ले, तो सोना वह कोई पदार्थ नहीं है। वह तो अनेक परमाणुओंका जत्था है। पानीका दृष्टांत ले तो पानी एक पदार्थ नहीं है - अनेक परमाणुका समूह है। - वैसे दृष्टांतमें ऐसे ले सकते हैं वह सिद्धांत नहीं है। जो दृष्टांत है वह सिद्धांत नहीं है। कोई एक VIEW POINT - दृष्टिकोण समझानेके लिये बात है। ज्यादा आकुलताके आगे कम आकुलतामें सुख लगता है कि नहीं लगता ?

अगर निद्रा वह जीवका स्वभाव होता और स्वाभाविक लक्षण होता तब तो सिद्ध परमात्माको अनंत निद्रा आनी चाहिये जब कि निद्रा है वह (तो) मुनिदशाके कम हो जाती है। मुनिदशामें अल्प निद्रा होती है, गाढ निद्रा नहीं होती, और अरिहंत परमात्माको तो निद्रा ही नहीं होती। निद्रा है वह शरीरका रोग है। क्षुधा है, तृषा है, वे शरीरका रोग हैं, वैसे ही निद्रा है वह शरीरका रोग है। और अरिहंतदशामें अठारह दोष रहित शरीर होता है। परमऔदारिक शरीर जब होता है तब क्षुधा, तृषा, निद्रा, आहार, निहार, प्रस्वेद (आदि) कुछ नहीं होता। ऐसा परमऔदारिक शरीर बन जाता है। निद्रा चैतन्यको जड़ बनाती है, यानी जड़ जैसा बनाती है, उसे इष्ट कैसे मानना ? इच्छने योग्य कैसे मानना ?

चलते हुए प्रकरणका मुद्दा लेकिन वह है कि स्वरूपनिश्चय जब होता है तब उस स्वरूपनिश्चयके पहचानके मुख्य दो मुद्दे बनते हैं। एक ज्ञान और दूसरा सुख या आनंद। ज्ञानस्वभावी आत्माका ज्ञान लक्षणसे निश्चय होता है। और जब ज्ञानलक्षणसे निश्चय होता है तब अनंत ज्ञानके साथ अनंत सुखका निश्चय होवे, होवे और होवे ही। अब यह किस तरह ? ज्ञान है वह कषायके अभाव स्वभावरूप है। ज्ञानसामान्य लें तो, उसमें कषायका कण नहीं है। कषाय-राग, द्वेष, मोह आदि परिणाम वे चारित्रगुणकी (विपरीत) अवस्थाएँ हैं। दर्शनमोह वह श्रद्धागुणकी (विपरीत) अवस्था है। जबकि ज्ञानगुण है उसमें इन दोनों में से एक भी नहीं है। ज्ञानकी मिथ्यात्व अवस्थामें आत्माकी पहचान ज्ञानसे होती है। अगर आत्माके सभी गुण विपरीत परिणामते होते तो और पूरेके पूरे विपरीत परिणामते होते तो, आत्माको आत्माका स्वभाव पहचाननेके लिये पैर रखनेकी कोई जगह नहीं रहती। Footing Space तो चाहिये। कहाँ खड़ा रहकर पहचान करना ?

यह तो चाहिये न! तो ज्ञान पद ऐसा है। ज्ञानपदके आधारसे, ज्ञान लक्षणके आधारसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय होता है। १४४ (समयसारकी) गाथामें क्या कहा ? ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय होता है तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मर्यादामें आकर आत्मसन्मुख होते हैं। आत्मसन्मुख होते हैं माने अंतर्मुख होते हैं। दिशा बदल जाये ऐसा जो परिणमन है वह स्वरूपकी पहचानके कालमें होता है तब सुख का निश्चय साथ ही साथ होता है। (क्यों साथ ही साथ होता है ?) क्योंकि जीवको प्रयोजन सुखका है। ज्ञानका नहीं है। किसी भी जीवको ज्ञान प्राप्त करके भी सुख ही प्राप्त करना है। और ज्ञानका अभाव करके भी सुखका अनुभव करना है। जीव सो जाता है वह भी सुख के लिये। वहाँ ज्ञानका व्यापार नहीं है। मतलब उसे ज्ञानकी जरूरत नहीं है (बल्कि) सुखकी जरूरत है। जब कि ज्ञान स्वयं कषायके अभाव स्वभावरूप होनेसे, जब ज्ञानस्वभावकी पहचान होती है तब अकषाय स्वभावकी पहचान होती है और अकषायपना वह सुखका स्वरूप है। क्योंकि आकुलता कषायमें है और निराकुलता अकषायमें है। यह परिस्थिति है। अनंतज्ञानके साथ अनंत सुख जुड़ा हुआ है, अभेद है, ऐसा निश्चय साथ ही साथ होता है। और ऐसा निश्चय हो जाता है इसके कारण जीवकी सुख जुटानेकी जो वृत्ति (या अभिप्राय) है वह अधिक जोर करती है। सुख तो चाहिये, लेकिन सुख दिखें और सुखकी प्राप्ति समीप लगे तब सुखप्राप्तिकी वृत्ति बलवान हो जाये, वह समझ सके ऐसी बात है। कल्पित पदार्थकी प्राप्तिमें भी ऐसा ही बनता है। सुखका निर्णय कर लिया कि फलाने पदार्थमें मेरा सुख है, फिर उदयमें उस पदार्थका संयोग हो तब तीव्र परिणाम हुए बिना रहता नहीं। यह तो सुखका अभाव है, वहाँ भी ऐसा बनता है तो जहाँ अनंत सुखका

सागर दिखे, और वह अपनेमें है यानी उसकी उपलब्धी समीप लगे, वहाँ उस सुखप्राप्तिकी वृत्ति अत्यंत बलवान हो जाये यह समझानेकी जरूरत नहीं रहती ऐसी बात है। मतलब अंतर सुखकी प्राप्तिका प्रयत्न, जैसे ही स्वरूपका भावभासन आया कि, जोरसे शुरू हो जाता है। पुरुषार्थका एक नया तबक्का शुरू हो जाये। और उस पुरुषार्थका पराक्रम आगे जाकर ऐसा हो जाये कि, जीव प्रदेश-प्रदेशसे सुख-आनंदका अनुभव ले ले और नहीं ले तब तक चैन नहीं पड़े ऐसा पुरुषार्थका जोर आता है।

कषाय ज्ञानमें जाननेमें आता है, परन्तु कषाय उसमें मिल नहीं जाता। ज्ञान कषायको जानता है। जिसकी मौजूदगी में क्रोधका जानना होता है - वह ज्ञान है। वह ज्ञान सत् है और क्रोध रहित है। क्रोधको जाननेवाला ज्ञान कभी क्रोधरूप होता नहीं। (अरे!) अज्ञान अवस्थामें भी नहीं होता। ज्ञान अवस्थामें तो वह चर्चा करनेका विषय ही नहीं है, ज्ञानीका ज्ञान क्रोधरूप हो जाय ? अज्ञानीका ज्ञान भी कभी क्रोधरूप नहीं होता। ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है, भले ही वह क्रोधको जाने तब भी, लेकिन भ्रांति उतनी होती है मुझे क्रोध हुआ। वह अज्ञानदशामें भ्रांति होती है। ज्ञानदशामें ऐसी भ्रांति नहीं होती कि क्रोध मुझे हो रहा है। क्रोधको मैंने जाना, उसका ज्ञायक हूँ, क्रोधका जाननेवाला हूँ - ऐसा ज्ञान होता है। मुझे क्रोध हुआ ऐसा ज्ञान नहीं होता। इसलिये ज्ञान तो तीनों काल, ज्ञान चाहे ज्ञानीका हो या अज्ञानी का हो, अकषाय स्वभावी ही है। और इसलिये अकषाय स्वभावी ऐसा जो आत्मा, वह ज्ञान लक्षणसे पहचाननेमें आता है। ज्ञान तो उसका नमूना है। पूरी चीज़का निर्णय उसमेंसे हो जाता है।

कषाय ज्ञानमें जाननेमें आता है, परन्तु कषाय उसमें मिल नहीं

जाता। ज्ञान कषायको जानता है। जिसकी मौजूदगी में क्रोधका जानना होता है - वह ज्ञान है। वह ज्ञान सत् है और क्रोध रहित है। क्रोधको जाननेवाला ज्ञान कभी क्रोधरूप होता नहीं। (अरे!) अज्ञान अवस्थामें भी नहीं होता। ज्ञान अवस्थामें तो वह चर्चा करनेका विषय ही नहीं है, ज्ञानीका ज्ञान क्रोधरूप हो जाय ? अज्ञानीका ज्ञान भी कभी क्रोधरूप नहीं होता। ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है, भले ही वह क्रोधको जाने तब भी, लेकिन भ्रांति उतनी होती है मुझे क्रोध हुआ। वह अज्ञानदशामें भ्रांति होती है। ज्ञानदशामें ऐसी भ्रांति नहीं होती कि क्रोध मुझे हो रहा है। क्रोधको मैंने जाना, उसका ज्ञायक हूँ, क्रोधका जाननेवाला हूँ - ऐसा ज्ञान होता है। मुझे क्रोध हुआ ऐसा जान नहीं होता। इसलिये ज्ञान तो तीनों काल, ज्ञान चाहे ज्ञानीका हो या अज्ञानी का हो, अकषाय स्वभावी ही है। और इसलिये अकषाय स्वभावी ऐसा जो आत्मा, वह ज्ञान लक्षणसे पहचाननेमें आता है। ज्ञान तो उसका नमूना है। पूरी चीज़का निर्णय उसमेंसे हो जाता है।

एक दूसरी बात करते हैं कि, मुमुक्षु कहाँ भूल करता है ? सुखाभासमें वह भूलता है। अथवा मुमुक्षुतामें कितने ही आनंदका अनुभव होता है। मुमुक्षुता मंद कषायकी भूमिका है।

**‘कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष,
भवे खेद प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास।’**

आत्मसिद्धिशास्त्र गाथा-३८

कषायकी मंदता होती है, उपशांतता भी होती है। कषायरस ठंडा पड़ता है तब जीवको कितने ही आनंदका अनुभव होता है,

जिसके कारणसे बाह्यमें शाताके कारण भी कितनी बार प्रिय लगते हैं। उसे एकांत प्रिय लगता; धमालवाला माहोल अच्छा नहीं लगता; क्लेशवाला कुटुंब अच्छा नहीं लगता; शांत मित्र प्रिय लगते हैं; अथवा अनुकूलताएँ अच्छी लगती हैं और प्रतिकूलताएं प्रिय नहीं लगती हैं; क्योंकि विकल्प बढ़ते हैं और उससे इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है। जिससे जीवकी योग्यता रुक जाती है। बहुत बढ़ीया बात की है। ('कृपालुदेव'ने) यहांपर, एक सूक्ष्म बात की है। - यह जरा खुलासा करने योग्य बात है।

'मुमुक्षुतामें भी कितने ही आनंदका अनुभव होता है।' माने क्या ?

जब ऊपरके क्रमसे जीव मुमुक्षुतामें प्रवेश करता है तब, स्वच्छंद दबा वहाँ तक तो वह पहुँच गया। जहाँ इस प्रकारके परिणाम हैं वहाँ उसकी अवस्थामें, उसके पहले जिस प्रकारसे था, और (अब) जिस प्रकारके हुआ उसमें बहुत बड़ा अंतर है। ऐसे यथार्थ मुमुक्षुताके परिणाममें भी जीव आया नहीं। अतः उसको बाह्य शाता बढ़ती है अथवा उसकी आकुलता बहुत कम हो जाती है, चंचलता भी बहुत कम हो जाती है। और बहुत चंचलता घटती है तब बहुतोंको अलग-अलग प्रकारके अनुभव होने लगते हैं। किसीको लाल-पीला दिखने लगता है, किसीको झनझनाहट होती है। किसीको कुछ होता है किसीको कुछ होता है। चंचलता घटती है और आकुलता कम होती है तब इस प्रकारके चित्र-विचित्र प्रकार उत्पन्न होते हैं। किसीको नहीं भी होता है तब उसे ऐसा लगता है कि मुझे आनंद आया।

परन्तु यहाँ से परिणामको एक गुलांट खानी है। अभी तक जो पर्याय प्रधानता है वह गुलांट खाकर उसे अब द्रव्य प्रधानतामें आनेका अवसर आया है। अगर वह द्रव्यदृष्टिमें द्रव्य प्रधानतामें नहीं

आये तो यह जो पर्याय प्रधानता है उसमें ऊपरका दोष - 'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा' - यह दोष रह जायेगा। अतः जिससे योग्यता रुककर मोक्षकी (मोक्षमार्गकी) प्राप्ति नहीं होगी। यह बात 'कृपालुदेव'ने बहुत बढ़ीया की है। बहुत ही गहराईसे बात की है। 'अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कितने ही आनंदका अनुभव होता है।' चंचलता घटती है, कषायकी मंदता बहुत होती है। पहले जो गुस्सा होनेके प्रसंग, मान-अपमानके प्रसंग, दूसरे-तीसरे कारणोंको तो वह घोलकर पी जाता है। उसको कुछ नहीं होता। बहुत अच्छी मुमुक्षुता आयी होती है। परन्तु इस मुमुक्षुतामें आनंदका अनुभव मुख्य करने जैसा नहीं है। अब स्वरूपका निर्णय करनेका अवसर आया है। आत्मा सत् परमानंदरूप है, यह मूल स्वरूपका निर्णय है। ऐसे स्वरूपकी प्रधानता आनी चाहिये, पर्याय अंशकी नहीं।

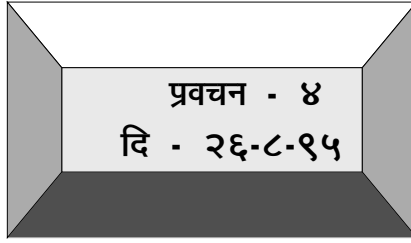
देखो! अभीतक आत्माका आनंद नहीं आया। अभी भी उसे आत्माका आनंद नहीं है कि जो उसे अनुभवमें आता है। परन्तु जब सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञानकी निर्विकल्प उत्पत्ति होती है (तब) पहले सम्यक्दर्शन होता है, तब आत्माके स्वाभाविक आनंद गुणमेंसे आनंद प्रगट होता है। अपूर्व आनंद प्रगट होता है (जिसका) प्रदेश-प्रदेशमें अनुभव होता है। परन्तु ज्ञानी, सम्यक्दृष्टी, इस आनंदकी मुख्यता ज्ञानदशा गई, और पर्यायदृष्टि हो जाती है। ऐसे सूक्ष्म विषयकी बातको भी 'कृपालु देव'ने मुमुक्षुताकी भूमिकामें खोली है। बहुत समझने जैसा विषय है।

यह आत्मा मुमुक्षुतामें प्रवेश करता है तब पूर्णताके लक्षसे अर्थात् कि पर्यायके लक्ष से प्रवेश करता है। आगे बढ़ता है उसमें पर्यायका सुधार होता है। परन्तु इस पर्यायका सुधार पर्यायदृष्टि को मजबूत करें तो वह मार्गप्राप्तिमें अवरोधक कारण है। इस पर्यायका सुधार

करके मुमुक्षु जीवको एक गुलांट खानी पड़ती है। इस पर्यायमें मोक्षमार्ग प्रगट हो कि केवलज्ञान प्रगट हो, मुझे अब उसकी कोई विशेषता नहीं। ऐसा जो मेरा स्वरूप है उसका अभेदरूपसे मुझे पता लग गया है। और यह बात 'कृपालुदेव' १६५ पत्रांकमें ज्ञानप्राप्ति हुई तब करते हैं, 'हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है।' १६५ पत्रमें यह बात की है। कैसे यह बात आई ? क्यों ऐसी बात की ? १९४७ (के वर्षमें) जैसे ही ज्ञानप्राप्ति हुई, समकित शुद्ध प्रकाशीत हुआ, तब केवलज्ञानकी पर्यायको भी गौण कर दिया। अब मुझे मोक्षकी जरूरत नहीं। ऐसा कैसे आया ? ऐसी बात लिखनेका कारण क्या ? ऐसा विकल्प और लिखनेका कैसे बना ? बहुत विचार करना पड़े ऐसा विषय है। 'इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है। मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा। हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है।' इस वाक्यको लिखा है कि मोक्षकी अब मुझे कोई जरूरत नहीं, (वह) कैसे ? कारण कि पर्यायदृष्टि गई। मोक्ष तो एक समयकी पर्याय है। केवलज्ञान और मोक्षदशामें जो आत्माको रिद्धिसिद्धि की उत्पत्ति होती है उसका माप (In Percentage) निकाला नहीं जा सकता, इतना मेरा पद ऊँचा है। उसकी दृष्टिमें साधक या सिद्धपर्याय कुछ है ही नहीं, ऐसी दृष्टि वह सम्यक्दृष्टि, वह वीतरागदृष्टि वह द्रव्यदृष्टि है, जिसे सम्यक्दर्शन कहने में आया है।

उस सम्यक्दर्शन की प्राप्तिके पहले, पदार्थ निर्णयसे पर्यायकी गौणता और पदार्थकी मुखयता, द्रव्यकी प्रधानतासे हो जाती है। ऐसा कहनेका यहाँ निर्देश है - आशय है। विषय बहुत अच्छा प्रतिपादित हुआ है। आजका समय पूरा होता है।





पत्रका विषय है - मुमुक्षुताकी शुरुआत किस प्रकारसे होती है ? अनुक्रमसे मुमुक्षुता वर्धमान होती है तब जीव कैसे परिणमन से गुजरता है और उत्कृष्ट मुमुक्षु स्वभावसन्मुखता तक कैसे पहुँचता है ? उस विषयका विस्तार इस पत्रमें किया गया है। स्वाध्याय चल गया है उसका संक्षेप ले लें।

कोई भी मुमुक्षुजीव जगतके पदार्थोंके प्रतिकी मोहासक्तिसे अकुलाकर, एक मोक्षके लिये ही यत्न करता है तब उसे मुमुक्षुता प्राप्त होती है। जब मुमुक्षुता प्राप्त होती है तब वह जीव अपने दोषको, अपने परिणमनमें होते हुए दोषित भावोंका अपक्षपातरूपसे अवलोकन करता है - देखता है, और जिससे उसका स्वच्छंद मिटता है, कषायरस कम होता है, और जितना स्वच्छंद और कषायरस घटता है उतने ही प्रमाणमें स्वरूपकी पहचान होनेकी भूमिका, वहाँ तैयार होती है। कुछ ऐसी भूमिका तैयार होनेके बाद सम्यक्दर्शन मोक्षमार्गकी प्राप्ति होनेमें तीन मुख्यरूपसे दोष रहते हैं, अथवा मुमुक्षुको होते हैं। वे दोष किस प्रकार मिटें, और उन दोषोंका स्वरूप क्या है ? उस संबंधी विस्तार पत्रके शेष अंशमें है।

उसमें सबसे पहला दोष है, **'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा।'** जीवके अभिप्रायमें जब तक जगतके किसी भी पदार्थमें

और प्रसंगोंमें सुखबुद्धि होती है, सुखका निश्चय होता है, तब तक उसे आत्मस्वरूपका निश्चय, आत्मस्वरूपकी पहचान हो नहीं सकती। क्योंकि वे दोनों परस्पर विरुद्ध अभिप्राय हैं। आगे भी इसके संबंधमें ३३१ पत्रांकमें इस बातका उल्लेख उन्होंने किया है। पत्रा ३१८। 'भ्रांतिवश सुखस्वरूप भास्यमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसंगों एवं प्रकारोंमें....' जहाँ जहाँ जीवको कोई भी प्रसंगमें, कोई भी वस्तुमें, कोई भी प्रकारसे सुख भास्यमान होता है, वह भ्रांतिगतरूपसे भासित होता है। क्योंकि आत्माका सुख आत्मस्वरूपको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है। फिर भी जीवको भासित होता है वह जीवकी भ्रांति है। और जब तक उस भ्रांतिगत स्वरूपमें जीवको सुख भासित होता है, माने लगता है; और इसकी मीठास आती है, प्रीति वर्तती है, तब तक जीवको अपना स्वरूप अपना अनंत सुखमय ऐसा स्वरूप भासित होना असंभवित है। वहाँ तक अपने स्वरूपकी पहचान नहीं होती, भासित नहीं होता। और जब तक इस प्रकारकी (भ्रांतिमें) जीव वर्तता है, तब तक स्वरूप तो भासित नहीं होता बल्कि इसके अलावा और एक नुकसान वह होता है कि तब तक उसे सत्संगका माहात्म्य, यानी सत्संगका मूल्यांकन, सत्संगकी कीमत तथारूपसे, माने यथायोग्यरूपसे लगती नहीं है। अथवा लगना असंभव है। भास्यमान माने लगना, Feel होना। विचारमें आता है कि सत्संगका मूल्य बहुत है, परन्तु ऐसा लगे नहीं ऐसी एक विचित्र परिस्थिति खड़ी होती है और जीव उसमें ठगा जाता है। मेरा विचार तो बराबर है (कि) सत्संग, बहुत कीमती है; परन्तु उसे यथायोग्य रूपसे यह बात लगी नहीं अथवा लगना असंभवित है। ऐसी एक परिस्थिति जब तक भ्रांतिगत सुखमें जीवको मिठास भासित होती है तब तक रहती है।

यहाँ चलते हुए प्रकरणमें 'कृपालुदेवने इस विषय को बहुत सूक्ष्मतासे खोला है। 'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा' ऐसा जो अभिप्राय है वह, आत्मामें परमानंद है, और आत्मा स्वयंके अस्तित्वको - सत्को निरालंबरूपसे; निरपेक्षरूपसे टिकाये हुए है, शाश्वतरूपसे स्वयंके अस्तित्वमें रहा है, ऐसा निश्चय तबतक उत्पन्न नहीं होता (होने नहीं देता) अथवा ऐसा निश्चय न होनेके कारण, ऐसा निश्चय नहीं किया होनेके कारण, जीवको मानसिक सुखकी अपेक्षा रहती है। 'अल्प भी सुखेच्छा' उसमें क्या कहना चाहते हैं ? मानसिक सुखकी अपेक्षा रहती है। इसलिये मुमुक्षुतामें कितने ही आनंदका अनुभव आता है, और इसके कारण 'इससे बाह्यसाताके कारण भी कितनी ही बार प्रिय लगते हैं(!)' इतना वचन लिखकर 'कृपालुदेवने कौंसमें आश्चर्यवाचक चिह्न रखा है। मुमुक्षु अपने दोष देखनेके स्टेज (Stage) तक आगे बढ़ा, स्वच्छंद दबा और फिर भी अभी भी बाह्यसाताके कारण तुझे क्यों प्रिय लगते हैं ? नहीं लगने चाहिये। स्वयंको ('कृपालुदेवको) आश्चर्य होता है। स्वरूप सुखका निश्चय नहीं होनेके कारण जब तक स्वरूपमें सुख है, ऐसा निश्चय नहीं होता, ऐसी स्वरूपकी पहचान नहीं होती तब तक अनादिका बाह्यपदार्थमें सुख है, मानसिक शांति सुखरूप है, ऐसा निश्चयरूप परिणमन, निर्णयरूप परिणमन है, वह मिटता नहीं है। उसकी परिणति चलती रहती है और इसके कारण मुमुक्षुतामें भी उसे ठीकपना आ जाता है। मैं ठीक हूँ, मैं इतना तो आगे बढ़ा हूँ और अब आगे बढ़ता रहूँगा। यहाँ पर जो मुमुक्षुतामें ठीकपना लगता है वह एकभी प्रकारकी मानसिक शांति है। बाह्य अनुकूल पदार्थोंमें ठीकपना लगना वह भी मानसिक शांति है और मुमुक्षुतामें ठीकपना लगना वह भी मानसिक शांति है। तो उन दोनोंमें मानसिक शांति तो सामान्य रही, उसे

सुखस्वरूपकी पहचान नहीं है। स्वरूपमें सुख है, वह निश्चय नहीं है। आत्मामें सुख है वह अभी तक उसने देखा नहीं है, उसे दिखा नहीं है, वहाँ तक ऐसे भ्रांतिगत सुखमें जीव रुकता है। रुकनेका यह कारण है, इसलिए उन्होंने ऐसा लिखा है।

‘इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है’, अथवा रहती है, **‘जिससे जीवकी योग्यता रुक जाती है’,** यह नुकसान है। आगे बढ़ना चाहिये परन्तु वह आगे नहीं बढ़ पाता है।

पहले दोनोंका अंतर समझमें आया है कि नहीं आया ? मुमुक्षुतामें सत्संगके योगसे, संसारमें बाह्य पदार्थोंमें जो सुख है उससे आत्मामें जो सुख है, वह बात अलग है। यह (बाह्य) सुख वास्तवमें सुख नहीं है यह अनुभव से युक्ति से समझमें आता है। अनुभव से युक्तिसे माने क्या ? **‘पश्चात् दुःख ते सुख नहीं’** (अमूल्य तत्त्वविचार काव्य) मिठाई अच्छी लगती है। अच्छी लगती है वैसी मिठाईमें सुख है। खाते-खाते अब जाते हैं। खाते-खाते जो ज्यादा खानेमें आ जाये तो त्रास जाये कि नहीं ? अब (Vomit) हो जाये। **‘पश्चात् दुःख ते सुख नहीं’** वह सुखकी कल्पना थी। सुख भ्रांतिगतरूपसे था। जिससे पंचेन्द्रियके हर विषयको जीव बदल देता है। बदली किये बिना चले नहीं, ऐसी परिस्थिति खड़ी होती है। वह ऐसा सूचित करता है कि वहाँ सुख नहीं था, सुखकी भ्रांति हुई थी, वह सुखाभास था। यह अनुभवपूर्ण युक्तिसे समझमें आता है। परन्तु वहाँ वास्तवमें सुख नहीं है वैसा अनुभव नहीं हुआ। यह समझ ऐसी युक्तिसे होती है, परन्तु जिस समय परिणाम वर्तते हैं, तब जीवको उसमें मिटास हो तो सुखका अनुभव करता है। हकीकतमें, वास्तविकरूपसे उस समय आकुलता होती है परन्तु जीवकी दृष्टि मलिन होनेके कारण और विपरीत निश्चय होनेके कारण, सुखकी कल्पना होनेका कारण

Misconcept (भ्रांति) है। उस समय सुख लगता है, (उस समय) दुःख लगता नहीं। उस समय दुःख लगे तो भूल मिटे क्योंकि वास्तविकरूपसे दुःख है। वास्तविकरूपसे दुःख होनेके बावजूद भी सुख लगता है। यह परिस्थिति जब तक बदलती नहीं है तब तक जीवकी योग्यता रुकी रहती है।

जैसे ही मिठाईका पहला ग्रास लिया। वह पहला अनुभव सुखरूप लगा। थोड़ा ज्यादा खानेके लिये ललचाया, अच्छा लगा। जैसे जैसे ज्यादा खाया, वैसे-वैसे परिणामके अंदर (मिठासमें) गिरावट आती गई, जो खानेका उत्साह था वह ठंडा पड़ने लगा। एक परिस्थिति ऐसी आती है कि अब जरासा भी ज्यादा नहीं खा सके, बिलकुल नहीं चले, थोड़ा भी नहीं चले। वह अनुभव हुआ कि नहीं हुआ ? इसलिए इसे युक्ति कहनेमें आई हैं क्यों कि जब वे परिणाम चल रहे थे तब दुःख कैसे नहीं लगा ? (परन्तु) बादमें दुःख लगा, अतः उसने युक्तिसे समझा है, अनुभवसे नहीं समझा है, परन्तु युक्ति अनुभवप्रधान है। खाते-खाते सुखके परिणाम दुःखमें पलट गये। ऐसा अनुभव हुआ कि नहीं हुआ ? परन्तु बादमें क्यों पलटे ? उसी समय दुःख लगनेका स्पष्ट ज्ञान क्यों नहीं था ? ज्ञान तो स्पष्ट होना चाहिये। वह दुःखको दुःख ही अनुभव करे, सुखको सुख ही अनुभव करे। दुःखका सुखरूप अनुभव करे तब तक वह सुखके प्रतिके परिणाम छूट नहीं सकते क्योंकि निश्चय किया है कि इसमें सुख नहीं है और सुख आत्मामें है; वह देखा नहीं है। भले ही शास्त्रसे, ज्ञानी-गुरुसे, न्यायसे, युक्तिसे, अनुमानसे, विचारपणासे सुख आत्मामें है; ऐसा स्वीकार आया हो तो भी जब तक जीवको अपनेमें अपना सुख दिखे नहीं, सुखका Sample (नमूना) दिखे नहीं; तब तक सुखके समुद्रका स्वीकार नहीं आयेगा। जैसे

आदमी गलत प्रकारसे ठगाता नहीं वैसे ही यह जीव इस बात पर भी गलत तरीकेसे ठगाता नहीं है, चाहे जितना भी समझाया जाये और हाँ भी करें कि सुख आत्मा में है आपकी बात न्यायमुक्त है। न्यायसंपन्न (है) यह युक्तिसे भी समझमें आता है, फिर भी अंदरका सुख दिखे नहीं तब तक वह माननेके लिये तैयार नहीं है; तब तक उसका उल्टा निश्चय, विपरीत अभिप्राय कभी बदलता नहीं है; ऐसा बनता है इसलिये जीवको उस सुखकी इच्छा रहा करती है और वहाँ जीवकी योग्यता रुक जाती है।

तो उसके लिये शुरुआत कहाँसे करें ?

जो आगेका क्रम है वह बराबर संभालनेका है। इस पत्रमें 'कृपालुदेव'ने जो क्रम दिया है वहाँ तक तो उसे आना ही चाहिये। मोक्षार्थी होकर पूर्ण शुद्धिके लक्षसे अपने परिणामको निष्पक्षपातरूपसे अवलोकन करनेके Stage तक तो आना ही चाहिये। उसमें कोई फेरफार नहीं है। उसके बाद अब तो यह भूल खड़ी होती है, अथवा जो भूल खड़ी रह जाती है; उसके मिटानेके लिये अगर उसने बुद्धिपूर्वक ऐसा समझा है (कि) सुख आत्मामें है तो आत्मस्वरूप कैसा है ? उसकी अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिये।

अरिहंत परमात्माकी दशासे लेकर तेरवें (१३) गुणस्थानकसे लेकर सादि अनंत काल पर्यंत वे आत्माएँ परमानंदमें बिराजमान रहते हैं। एक समयके लिये भी और परिणमनके एक अंशमें भी वहाँसे खिसककर दूसरे विषयमें नहीं जाते हैं वरना दूसरे विषयमें आनेका ज्यादासे ज्यादा अवकाश (SCOPE) केवलज्ञानमें है। जब ज्ञान अति शुद्ध होता है, सम्पूर्ण शुद्ध होता है तब वह ज्ञान भले ही अंतर्मुख रहा हो तो भी उसमें लोकालोक तीनकाल सहित प्रतिभासित होते हैं। तथा लोकमें विचित्रता कितनी ? जगतकी विचित्रता

कितनी है ? जिसका कोई हिसाब नहीं, उतनी हैं। पूरे जगतकी सभी विचित्रताएँ और तीनकालकी विचित्रताएँ एकसाथ देखनेके लिये उपयोग फिरे ऐसी उपयोगको लालच होती नहीं अथवा उस आत्माको (विचित्रताएँ देखनेकी) लालच होती नहीं। उसका कारण क्या ?

यहाँ तो रास्ते पर थोडासा बाज़ा बजे (कि तुरंत) ध्यान वहाँ जाता है (कि) क्या है ? क्या निकला ? जब Procession (जुलुस) निकलता है तब लोग देखने खडे रह जाते हैं कि नहीं ? घर रास्ते पर हो तो खिडकी से देखते हैं और वह भी देखा हुआ हो, तो भी। ऐसा नहीं है कि पहली-पहली देख रहे हैं। ऐसी सांसारिक सामान्यजन की कुतूहलवृत्ति है। वह कुतूहलवृत्ति साधक अवस्थामें सर्वाशमें नाश होती है और केवलज्ञान दशामें पूरा लोक तीनकाल सहित जाननेमें आये तो भी उययोग पलटता नहीं है, जरा भी खिसकता नहीं है; उसका कारण क्या ? ऐसा क्या है ? आत्मस्वरूपमें ऐसा क्या है कि जिसके कारण उपयोग बाहर नहीं आता और अंदर ही अंदर रहता है ? क्योंकि अंदरमे अनंत सुखका भंडार भरा है। उस सुखको छोड़कर दुःखमें क्यों आये ? शीतल छाया मिले तो जलते हुए अंगारो जैसी धूपमें कोई खड़ा नहीं रहता। चींटी हो तो चलकर छावमें चली आये। वह तो तीन इन्द्रिय जीव है। कहनेका मतलब यह है कि उसको विचार करनेके लिये मन नहीं है, तो भी (चींटी) धूपमेंसे चलकर छांवमें आ जायेगी। त्रस जीव है इसलिए धूपमें त्रस लगता है। अतः सुख-दुःखके अनुभव का संस्कार तीन इन्द्रिय जीवमें भी है। मन रहितका प्राणी है तो भी।

तो फिर केवलज्ञानके साथ जिनको अनंत परमानन्द प्रगट हुआ हो, उनके स्वयंके परमानंदको छोड़कर (उनका) उपयोग बाहर जाये

और आकुलता उत्पन्न हो; उसमें (आकुलतामें) कैसे आयेंगे ? आनेका प्रश्न ही नहीं। स्वरूपकी पहचान होनेकी बातको कहाँ ले जानी है ? ऐसा अद्भुत आनंदमय स्वरूप है। यह स्वरूप कैसा है कि जहाँसे सिद्ध परमात्मा खिसकते नहीं ? अनंतकाल तक वहाँका वहाँ ही उपयोग रह जाये। परिणामन समय-समय पलटता है। उत्पाद-व्यय चालू है परन्तु वहीं के वहीं आनंदमें ही आनंदमें रहते हैं। वह स्वरूप कैसा है कि जिससे ऐसा बनता है ? ऐसे स्वयंके स्वरूपकी अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न हो तो वर्तमान शाताको वह भूल जाये। एक नई आकांक्षा, नई आतुरता उत्पन्न होती है कि मेरा स्वरूप कैसा ? कि जिस स्वरूपके आश्रयसे पहले ही धमाकेमें सम्यक्दर्शन प्रगट होकर अंतमें केवलज्ञानकी दशा प्रगट हुए बिना रहे नहीं। वह स्वरूप कैसा ? इस स्वरूपकी अंतर खोजमें, अंतर शोधमें यह मुमुक्षु-आत्मा खो जाये; ऐसी परिस्थिति आये कि एकदम खो जाये। उसे वर्तमान दशामें कितना विकास हुआ है वह देखनेकी भी उसे फुरसत न मिले; नहीं तो वह देखना रहेगा (कि) मुझे ऐसा होता है, मुझे वैसा होता है। पहले ऐसा नहीं होता था अब ऐसा होने लगा है परन्तु उसका कोई काम नहीं। उस बातका तुझे कोई काम नहीं है। अभी तुझे बहुत काम (करना) बाकी है। सातों के सातों दिन यही (विषय) चलनेवाला है। दूसरा कुछ चल सके ऐसा नहीं है। इसमेंसे निकलना मुश्किल है - ऐसा यह पत्र है।

जब तक वर्तमान अल्प विकसित अवस्थाके ऊपर भी दृष्टि रहती है तब तक उस समय उसे स्वयंके स्वरूपकी खोज करनी है - यह बात चूक जाती है कि जिस खोज के अंतमें इस स्वरूपकी मुख्यता होती है। आत्तामें अनंत परमानंद है ऐसा भासित होता है और उसके सेम्पलपूर्वक (नमूने के साथ) भासित होता है तथा

प्रत्यक्ष अंशसे भासित होता है। भासित होनेवाला ज्ञानका अंश भी प्रत्यक्ष है; तब उसे ऐसा प्रतीत होता है, अनुभवांशसे उसे प्रतीत होता है। ७५१ पत्रमें किस शब्दका प्रयोग किया गया है ? 'परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति यह समकित का दूसरा प्रकार है।' उसे (अब) यकीनन् ऐसा लगता है कि मेरे आत्मामें अनंत अनंत अनंत सुख भरा हुआ है। जिसकी कोई हद नहीं इतना सुख भरा हुआ है। ऐसा निश्चय होनेके लिए; ऐसी पहचान के लिए जो खोज चली; अन्दरमें ही अन्दरमें खोज चली - उसकी प्रवृत्तिमें यह जीव इतना रुक जाता है, अन्दर चला जाता है कि वर्तमानमें जो विकास हुआ है वह देखनेकी उसे फुरसत भी रहती नहीं। परन्तु अगर ऐसी परिस्थितिमें न आये तो वर्तमान अवस्थाको देखा करे और रुक जाए। देखा करे और रुक जाये। अन्तमें पीछे जानेकी बारी आती है और परिणाममें वह आगे बढ़नेके बदले पीछे जाता है। ऐसी परिस्थिति खड़ी होती है।

दूसरा दोष लिया है 'परम दीनता की न्यूनता अथवा परम विनयकी न्यूनता' माने क्या ? 'सत्पुरुषमें ही परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परम धर्म कहा है।' वहाँ एक फूटनोट भी रखी है। सत्पुरुषकी तथारूप पहचान होने से यानी यथार्थमें पहचान होने से; सद्गुरुमें परमेश्वरबुद्धि रखनी चाहिए, उनकी आज्ञामें चलनेको परम विनय कहा है और उससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। यह परम विनय जब तक आये नहीं तब तक जीवको ऐसी योग्यता भी आती नहीं तथा ऐसी जो परमेश्वरबुद्धि है वह परम दीनताको सूचित करती है। यह बात (परम दीनता) उत्पन्न होना कठिन है और (अगर) उत्पन्न हो तो उसका निवेडा हो जाता है। क्योंकि सत्पुरुष हैं, वे दूसरे संसारी जीवों जिस प्रकार बाह्य जीवनमें जीते हैं उसी

प्रकारसे बाह्य जीवनमें जीते हैं। संसारी जीवोंके बाह्य जीवनके अनेक प्रकार हैं, वैसा सत्पुरुषको भी सामान्य प्रकार ही होता है।

आत्मज्ञान होनेपर बाहरमें फेरफार आ जाता है ऐसा तो बनता नहीं है। जैसे सभी मनुष्योंको अज्ञानभावसे बांधे हुए कर्म का उदय होता है, वैसे ही ज्ञानीको ज्ञानदशामें भी, अज्ञानदशामें बांधे हुए कर्म का उदय होता है, वैसे ही ज्ञानी को ज्ञानदशामें भी, अज्ञानदशामें बांधे हुए कर्मों का उदय होता है। ज्ञान तो किसी एक क्षणमें उत्पन्न हुआ है और कर्म तो पूर्व भवोंमें बांधे हुए हैं पहलेके भवोंमें बांधे हुए है, तथा ये पहले की दशामें बांधे हुए हैं जो अज्ञानदशा है। अतः उसका उदय ऐसा ही आता है, जैसा दूसरो को आता है तथा उस उदयमें वैसी ही प्रवृत्ति होती है। बाह्य प्रवृत्ति उदयके अनुसार होती है। अन्तर परिणमनमें अलबत्ता बहुत बड़ा अन्तर होता है, तो भी बाह्य प्रवृत्ति वैसी ही होती है। ऐसे सामान्य संसारी दिखते हुए जीवमें परमेश्वरबुद्धि स्थापित करना, यह मन जल्दीसे कबूल करे ऐसी बात नहीं है। और जिससे अनन्त कालमें भी सत्पुरुष की पहचान नहीं हुई। ऐसी एक विडम्बनापूर्ण परिस्थिति है। आसान बात नहीं है। परन्तु परमेश्वरबुद्धि आनेसे ही छुटकारा है अन्यथा योग्यता रुक जाती है। स्वयंको स्वरूपकी पहचान करनेकी योग्यता हुई नहीं वह कैसे ? स्वरूपनिश्चय स्वरूप की पहचान - यह दूसरा समकित है। परन्तु यह पहला समकित होनेके बाद होता है, और पहला समकित तो सत्पुरुषकी पहचान है। अतः उनकी स्वच्छन्द-निरोधरूप भक्ति, आज्ञा भक्ति - इस प्रकारके जो तीन विशेषण ७५९ पत्रांकमें प्रयोग किया है, उस परिणमनका वर्णन किया है। 'सत्पुरुषके वचनकी प्रतीतीरूप' उनके वचनमें मेरा कल्याण अवश्य है, ऐसा विश्वास ऐसी प्रतीति। प्रतीतिरूपका अर्थ क्या ? ये सत्पुरुष

हैं, मेरे लिये ये परमात्मा हैं, परमेश्वर हैं और उनके वचन मेरे आत्मकल्याणके काममें आयें - ऐसा है। ऐसा विश्वास, ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। उसे वचनकी प्रतीति कहनेमें आती है।

ऐसी कोई अपूर्व रूचि प्रगट हो। रूचि कब प्रगट हो ? जरूरत समझमें आये तब। जरूरत बिना सूचि नहीं होती। खुदको खुदके आत्मकल्याण होनेकी (करनेकी) इतनी जरूरत लगती है; उनकी आज्ञामें ही रहना और जरा भी आज्ञा बाहर जाना नहीं तथा स्वच्छंद निरोधरूपसे भक्ति। 'आप्तपुरुषकी स्वच्छंद निरोधरूपसे' माने क्या ? उनका स्वरूप भी समझमें आ जाता है। वर्तमान ज्ञानीपुरुषकी पहचान होने पर उसे तीनोंकालके ज्ञानीकी पहचान हो जाती है। एक हीरेको पहचाने वह जगतके सभी हीरेको पहचानेगा और काँचको भी पहचानेगा। मतलब सदगुरु और असदगुरुकी पहचान उसे हो जाती हैं। इसलिये स्वच्छंद करके असदगुरुका सेवन करेगा नहीं और स्वच्छंदको लेकर कोई भी ज्ञानी पुरुषका अविनय हो ऐसे परिणाममें नहीं आयेगा। वरना हम तो इनको माननेवाले और दूसरेको नहीं माननेवाले, यह बात आये बिना रहेगी नहीं। वहाँ जीवका स्वच्छंद है। अभी तो बहुत कुछ कहेंगे। जगतके सर्व प्राणीके प्रति दासत्व आयेगा, ऐसा आगे कहेंगे।

'सत्पुरुषमें ही परमेश्वर बुद्धि, उसको ज्ञानियोंने परम धर्म कहा है' धर्म नहीं, परम धर्म कहा है। मुमुक्षुकी भूमिका में वह परम धर्म है, ऐसा कहा है। इतनी ज्यादा मुख्यता इस बातको दी है क्यों ? क्योंकि उस स्थितिमें जब कोई भी जीव आता है तब उस जीवका दर्शनमोह अत्यंत गल जाता है। अत्यंत गल जाता है अतः उसको पहला समकित कहा है, और दूसरा समकित प्राप्त करनेके योग्य होता है। यह किस प्रकार से ?

सत्पुरुषके परिणमनसे यह परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न हुई है। परिणाम देखकर यह बुद्धि उत्पन्न हुई है। पहचान कहाँसे हुई है ? बाहरमें पहचान होनेकी कोई परिस्थिति ही नहीं है। बाह्य परिस्थिति तो पहचान हो सके ऐसी बिलकुल नहीं है परन्तु सत्पुरुषकी अंतर परिणति की पहचान, परिचयके कारणसे जिसको हुई, उसे पहचान हुई, तब उस जीवको परमेश्वरबुद्धि आये बिना रहती नहीं। इसके पीछे बहु ठोस न्याय (LOGIC) है। अथवा बहुत ठोस न्याय रहा हुआ है। किस प्रकारसे ?

सत्पुरुषकी जो अंतर परिणति है, वह उनके निज परमात्माके साथ जुड़ी हुई है और यह परिणति स्वरूपाकारा हुई है। परिणामका यह स्वभाव है कि वह जिसका अवलंबन लेता है उसरूप परिणाम होता है। यह सभीको सामान्य अनुभव है। काला जीराकी फाकी मारने पर पूरा का पूरा मैं कड़वा हो गया। क्या ? और मीठी चीज खाने पर मैं पूराका पूरा मीठा हो गया। जिसका अवलंबन लें उस रूप परिणाम हो जाते हैं। यहाँ तो निज स्वरूप है। ज्ञानीपुरुषको अंतरमें स्वयंके निज परमात्मपदका अवलंबन आता है तब यह परिणाम भी तदरूप; स्वरूपाकार परमात्मस्वरूपके आकार का सादृश्यरूपसे उत्पन्न हो जाता है और जिससे उनकी परिणति विराजमान अर्थात् उनकी परिणतिरूप हृदयमें विराजमान (हृदय अर्थात् इस शरीरका पंपींग स्टेशन नहीं; यहाँ परिणतिको हृदय कहा है) वहाँ इस हृदयमें विराजमान परमात्माका दर्शन भी होता है और तब यह सत्पुरुष सत्पुरुषके रूपमें नहीं, यहाँ मनुष्यरूप तो नहीं ही परन्तु सत्पुरुषरूपमें भी नहीं, परन्तु परमेश्वररूपमें उनका दर्शन होता है। अतः परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होती है। यह कोई कल्पना नहीं है। मुमुक्षुजीवको सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि होती है यह कोई कल्पित

बात नहीं है, कोई अतिशयोक्ति नहीं है (परन्तु) एक हकीकत बनती है; उसका यहाँ उल्लेख है। एक (यह) न्याय तो बहुत ठोस न्याय है।

दूसरा एक न्याय इसमें ऐसा है कि यह जीव संसार समुद्रके मध्यमें खुद डूब रहा है। ऐसा जिस दिन भान हो, उस दिन वह तिरनेके लिये प्रयत्न करेगा। वायुवान क्रश हुआ हो समुद्रके ऊपर और समुद्रके मध्य (वह) गिर जाये तब क्या करें ? पेराशूटसे नीचे तो उतरा लेकिन वहाँ पानी था। पेराशूट से नीचे तो उतरा लेकिन नीचे तो पानी था चारों ओर पानी दिख रहा था, कितना तिरे ? तिरना आता हो तो (भी) कितना तिरे ? घंटे, दो-चार घंटे के बाद थक जायेगा और डूब जायेगा। तब यह कोई भी साधन पकड़ना चाहता है जिससे वह परिश्रम किये बिना तिर सके। अब उसमें कोई लकड़ी तैरती हुई आयी तो उसे पकड़ेगा कि नहीं पकड़ेगा ? (कि) उस समय ऐसे नखरे करेगा कि स्टीमर मिले तो मैं बैठूँगा। स्टीमरमें (ही) बैठकर किनारे पर जाना है, ऐसा करेगा ? नौका (boat) कोई भेजे तो (उसमें) मुझे बैठना है। मुझे लकड़ी पकड़कर किनारे पर नहीं जाना है। (अरे!) तिनकेका (भी) जोरसे सहारा लेगा। डूबनेवाला तिनकेको भी पकड़ेगा, यह कहावत है। वैसे (ही) वर्तमान कालमें सर्वज्ञ परमात्मा, जिनेन्द्र परमात्मारूप स्टीमर तिरनेके लिये मिले ऐसी तो स्थिति रही नहीं। २५०० साल हो गये। केवली परमात्माका जमाना २५०० साल पहले ही पूरा हो गया इसलिये वह स्टीमर तो तिरनेके लिये मिलनेवाली है नहीं। बादमें रहे निग्रंथ गुरु - भावलिंगी ज्ञानी-संत, आचार्य, उपाध्याय और साधु, जिसे पंचपरमेष्ठी कहते हैं, वे भी पिछले ७००-८०० सालसे कोई दिखते नहीं हैं। सातवें गुणस्थानकमें विराजमान अंतर-बाह्य निग्रंथ कहो कि

जिनकी पवित्र दशा देखने मात्रसे सम्यक्दर्शन उत्पन्न हो; वह स्थिति नहीं रही है। अब एक सत्पुरुष रह गये। यह जमाना है कि कोई ज्ञानीपुरुष का अवतार होता है और उनके सम्पर्कमें आये हुए अनेक जीवोंको वे तिरनेमें कारण बनते हैं। जो जीव उनकी वाणी और सत्समागम से तिरते हैं उस जीवको, स्वयं समुद्रके मध्यमें डूब रहा था उसका भान होता है और जिससे वह झडपसे इस स्टीमरको पकडता है (इतनी) परिणामकी गतिसे वह परमेश्वरको पकडता है - ऐसी ही गति से वह सत्पुरुषको पकडेगा और तब उसको ऐसा लगता है (कि) इस जीवको भूतकालमें अनंत तीर्थकर मिले, अनंत तीर्थकरोंके समवसरणमें जा आया, पर कल्याणको नहीं साधा। परन्तु अब अगर इस सत्पुरुषके योगमें कल्याण साधनेमें आये, तो अनंत तीर्थकरोंसे भी अधिक, ऐसा योग प्राप्त हुआ है उसे ऐसा भासित हुए बिना रहेगा नहीं। ऐसा कहनेमें कोई तीर्थकर देवका अपमान नहीं है परन्तु (यह) एक वास्तविकता है।

जगतमें भी किसी दरिद्र व्यक्तिको कोई सही जरूरतके वक्त मदद करे तो दुनियामें अरबपतिसे उसे लखपति व्यक्ति अरबपति दिखता है। उसके लिये वह अरबपतिसे भी अधिक है क्योंकि उसकी मददसे मैं अभी करोड़पति या अरबपति बन गया हूँ। इस परिस्थितिमें वास्तविकता रही हुई है। अतः **'सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि उसे ज्ञानियोंने परमधर्म कहा है।'** ऐसी एक परिस्थिति आती है और (वह) अपने अनुभव से आती है। स्वयंको ऐसा भासित होता है और (परमेश्वरबुद्धि) आती है। ऐसे ही उड़ाउ बात नहीं है। और यह परिस्थिति योग्यताको सूचित करनेवाली है क्योंकि उस समय दर्शनमोह अत्यंत अत्यंत घट जाता है और जीव आत्मस्वरूपको पहचाननेके योग्य पात्र बनता है।

तीसरा एक न्याय इस विषयमें ऐसा है कि आत्मस्वरूप की पहचानमें निजस्वरूप की पहचान है और निजस्वभाव शक्तिरूपसे रहा हुआ है। (जब) सत्पुरुषमें स्वभाव प्रगटरूपसे - व्यक्तरूपसे दिखनेमें आता है। उनकी जो परिणति है उसमें स्वभाव प्रगट हुआ है इसलिये स्वभावकी पहचान वहाँ हुई। सत्पुरुषकी पहचान हुई वहाँ स्वभावकी पहचान हुई। यानी कि स्वभावकी पहचान करनेकी क्षमता जिसे प्राप्त हुई उसे आत्मस्वरूपकी पहचान सहजमात्रमें हो - ऐसी योग्यता कैसे प्राप्त न हो ?

उस योग्यताकी प्राप्ति होती है इसलिये दूसरे समकित में आता है और आगे बढ़कर तीसरे समकितको प्राप्त करता है। इस तरह सीधी लाईन - सम्यक्दर्शनकी सीधी लाईन - सत्पुरुषके परिचयसे, पहचान होनेके साथ जुड़ जाती है। (अतः) तब तक सीधी सम्यक्दर्शनकी लाईन जुड़ती नहीं है। श्रवण, वाचन, विचार, भक्ति कुछ भी करता रहता है, वही की वही प्रवृत्ति दोहराने में आयुष्य पूर्ण कर लेता है। मूल लाईन उसे हाथमें नहीं आती है।

पहचान होने में समयका अन्तराल पड़ता है। (पहचान) एक समयमें नहीं होती है। उसमें कुछ विशेष योग्यता की जरूरत पड़ती है। स्वरूपकी पहिचान होनेमें विशेष योग्यता की जरूरत पड़ती है। और इसके बाद उसकी मुमुक्षुता वर्धमान होती है। जब ज्ञानीपुरुषमें परमेश्वरबुद्धि आती है तब उनके प्रतिके भक्तिके परिणाम अतिशय रूपमें हुआ करते हैं। अतिशय भक्तिके परिणाम होते हैं; बेहद भक्तिके परिणाम होते हैं; क्योंकि परमेश्वरबुद्धि भासित हुई है इसलिये बेहद भक्ति आयी। उस भक्तिके परिणामसे दर्शनमोह टूटता जाता है। जैसे जैसे दर्शनमोह टूटता जाता है, वैसे वैसे ज्ञानमें निर्मलता आती जाये और ज्ञानमें (जब) पर्याप्त मात्रामें निर्मलता आये; तब स्वयंका

जो निर्मल स्वरूप है; जोकि मलिन ज्ञानमें प्रतिभासित नहीं होता था, वह निर्मल ज्ञानमें प्रतिभासित होता है। निर्मल स्वरूप निर्मल ज्ञानमें (जब) पर्याप्त मात्रामें निर्मलता आये; तब स्वयंका जो निर्मल स्वरूप है; जोकि मलिन ज्ञानमें प्रतिभासित नहीं होता था, वह निर्मल ज्ञानमें प्रतिभासित होता है। निर्मल स्वरूप निर्मल ज्ञानमें प्रतिभासित होता है। जब तक मति मलिन होती है तब तक स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता, ऐसा नियम है। इसलिये आगे जो कार्य होनेवाला है (उसका) यहाँ बीजारोपन हो गया। इसलिये यह आर्टिकल 'समकितका बीज' रूपमें लिया है।

समकित का बीज क्या है ?

यहाँ पर एक विशेष बात 'कृपालुदेवने की है। 'सत्पुरुषमें ही परमेश्वरबुद्धि इसे ज्ञानियोंने परमधर्म कहा है और यह बुद्धि परम दैन्यताको सूचित करती है।' अथवा परम विनयको सूचित करती है। उसको पूरा-पूरा विनय आता है। भगवान के प्रति जितना विनय आता है, उतना ही ज्ञानीके प्रति विनय आता है। और इसलिये ज्ञानीको भगवान कहनेकी भी प्रणालिका अपने यहाँ चलती है। हम लोग 'कृपालुदेव'को भगवान कहते हैं कि नहीं कहते हैं ? बात तो खुल्ली है। ३३ साल और ५।। महिने बाद उनका आयुष्य पूर्ण हुआ। अल्प आयुष्यमें मनुष्यभव पूर्ण हुआ और उस दौरान उनका बाह्य जीवन गृहस्थीका था। वे व्यापार और कुटुंब परिवारके बीच रहते थे। फिर भी, हम लोग उन्हें भगवान क्यों कहते हैं ? क्योंकि जैसे भगवानके निमित्तसे तिर सकते हैं वैसे ही उनके निमित्तसे भी तिर सकते हैं। इसलिये वे भगवान तुल्य हैं। भगवान तुल्य को भगवान कहना यह कोई बड़ी बात नहीं है। यह तो सीधीसादी बात है। वह बुद्धि परम दैन्यत्वको सूचित करती है। अब यहाँ एक

बहुत विशिष्ट बात की है।

‘सर्व प्राणियों के प्रति अपना दासत्व माना जाता है।’

यह एक परिणाम के अन्दर नया लक्षण उत्पन्न होता है। क्योंकि जैसे सत्पुरुषकी आत्मा परिपूर्ण परमात्मापद पर विराजमान है वैसे ही सभी आत्माएँ भी हैं। जब सभी आत्माके प्रति दासत्व माना जाता है तब ऐसी (सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धिरूप) परम योग्यताकी प्राप्ति हो; तो भी उस जीवको योग्यताके अहंभावकी, अहंकारकी उत्पत्ति नहीं होती वरना हुए बिना रहे नहीं। इसे एक विशिष्टता कहो या एक अलौकिक सुंदरता कहो। ज्ञानीपुरुषकी पहचान होना यह एक अपूर्व घटना है। कैसी घटना है ? अपूर्व घटना है। कभी किसीको हुई नहीं है। यह स्थिति (जब) आती है तब उसकी योग्यता विशेष होती है, निर्मलता विशेष होती है तब ऊपरके (आगे दर्शाये हुए) स्टेजमें से जीव पसार हुआ है। अन्य भी सुखेच्छा नहीं होती है। इसके बाद (सत्पुरुषकी) पहचान होती है। फिर भी अन्य जीवोंके प्रति उसकी विनम्रता उतनी की उतनी ही बनी रहती है। ऐसी एक परिस्थिति खडी होती है। और अगर ऐसी परिस्थिति इससे खड़ी नहीं हो तो, सुपीरियरीटी कोम्प्लेक्स (Superiority Complex) में आये बिना रहेगा नहीं। क्योंकि इतना तो आगे बढ़ा है और पर्यापबुद्धि मिटकर अभी द्रव्यदृष्टि हुई नहीं है। परन्तु सत्पुरुषकी पहचान का लाभ क्या ? अभिमान चला गया। अब कहीं भी अभिमान होनेका सवाल ही नहीं रहा, उतनी विनम्रता आयी है। सत्पुरुषकी अगर पहचान हो तो पहचानका यह चिह्न उत्पन्न होना ही चाहिये। बादमें अटकनेका कारण नहीं है। सच्ची पहचान हो तब ऐसा होता है। ऐसा हुए बिना रहता नहीं। इसलिये उन्होंने साथमें ‘जिससे’ ऐसा कहकर कारण लिया है ‘जिससे’ का अर्थ यहाँ क्या होगा ?

(कि) जिसके कारण परम विनय यानी परम नम्रता आये। सत्पुरुष के प्राप्ति परम विनय आये और दूसरेके साथ कैसे भी वर्तता हो (क्या) ऐसा होता है ?

जब परम विनय आता है, तब सर्वप्राणीमें अपना दासत्व माना जाता है, और परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। कोई जीव ज्ञानीपुरुषकी विशेष भक्ति करता है, अति भक्ति करता है, तब कैसे भक्तिमानको; दूसरे मुमुक्षु भी विशेष स्थानमें, आदरमें रख देते हैं। उनका आदर और थोड़ा स्थान दूसरे मुमुक्षुओंके बीचमें विशेषतावाला स्वाभाविक तौरसे माना जाता है। अथवा होता है। ऐसा पुण्ययोग भी साथमें होता है। ऐसी परिस्थितिमें उस स्थितिको किस तरह पचाया जा सकता है ? सत्पुरुषकी पहचान हो तो ऐसा नहीं होता। पहचानका (यह) लाभ है वरना ज्ञानीपुरुषके समीपवासी निकटवासीके रूपमें अहंभाव रोकना बहुत मुश्किल है। और उस स्थितिको पचाना तो बहुत मुश्किल है। यहाँ कहते हैं, अगर वास्तविक पहचान हुई हो तो सर्वप्राणीके लिये अपना दासत्व माना जाये। ऐसी परिस्थिति परम योग्यताकी प्राप्तिरूप है। उस वक्त परम योग्यता आती है। अच्छे से अच्छी योग्यता आती है। वह जीव मोक्षमार्गकी पहचान करके मोक्षमार्गमें प्रवेश कर लेगा। उसे अवरोध नहीं रहेगा। **‘ऐसा परम दैन्यत्व’**, यानी परम विनय जब तक आवरित रहा है... क्या ? यानी जब तक प्रगट नहीं हुआ है, प्रगट होनेकी योग्यता होने पर भी प्रगट नहीं हुआ है, जब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है; तब तक मुमुक्षुकी भूमिकामें इसप्रकारका प्रतिबंध वर्तता है, ऐसा जानने योग्य है।

१७२ पत्रांकमें ‘कृपालुदेव’ने मुमुक्षुके अवरोधक कारणों में चार प्रकारके प्रतिबंध लिये हैं। समाज प्रतिबंध, कुटुंब प्रतिबंध, देह प्रतिबंध

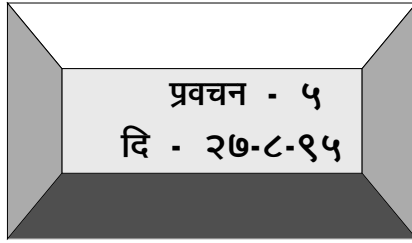
और संकल्प-विकल्प प्रतिबंध। समाजकी शरमसे ज्ञानीपुरुषके पास जानेमें अटके, अथवा अपमानके भयसे अपकीर्ति के भयसे रुक जाये, उसका आत्मकल्याण कभी नहीं हो सकता। कुटुंबको पहले खुश रहकर बादमें आत्मकल्याण करना (हो) उसका भी कभी आत्मकल्याण नहीं हो सकता। तो क्या कुटुंबको नाराज करके आत्मकल्याण करना ? वह प्रश्न नहीं है। समझदार हो उसे समझाना चाहिये। यह बहुत बड़ा काम है। मेरा आत्मा सिद्धपद लेने निकला है। छोटा-मोटा काम नहीं है। जैसे बड़े कामका महत्त्व जगतमें बड़ा है वैसे इस कामका भी महत्त्व बड़ा है। यह काम समझे तो इसका महत्त्व बहुत बड़ा है, ऐसे समझमें आये बिना रहेगा नहीं। और जहाँ बड़ा काम होता है, वहाँ जुड़ान (Involvement) भी बड़ा होता है, यह भी समझ सके - ऐसी बात है। तो फिर उसके पीछे पूरी शक्तिसे कोई लग जाता है तब दूसरी जगहसे उसका जुड़ान (Involvement) कम हो जाता है तो, पहला असर उसके कुटुंबके सदस्यों पर आती है। क्योंकि कुटुंबके सदस्योंके बीच ममत्व के राग है इसी तरह से उस कुटुंबका संचालन चलता है। उसमें फर्क दिखनेसे राग पर चोट पड़ती है, तब रागका प्रकार पलटकर, वही राग द्वेषमें परिणमित हो जाती है। राग पलटकर द्वेषमें (परिवर्तित) होता है। इसलिये नाराजगी उत्पन्न होती है। प्रायः ऐसा बनता है। किसीको नहीं भी बनता है। लेकिन बहुभाग ऐसा बनता है। आत्मकल्याण करने के लिये निकला हुआ जीव अपने आत्मकल्याणकी इतनी (ज्यादा) मुख्यता करता है (कि) उसमें उसको पूरे जगतको गौण करना पड़ता है। उसमें उसके कुटुंबका समावेश हो जाता है। पूरे जगतको गौण करता है। यह कोई अवगुण नहीं है (बल्कि) एक सदगुण है, बहुत बड़ा सदगुण है।

तीसरा प्रतिबंध है देह प्रतिबंध। शरीरकी अनुकूलता प्रतिकूलता, साता-असाताको गौण करके आत्मकल्याण करने निकला है। उसे आत्मकल्याण साध्य होगा। जहाँ अपने शरीर को गौण किया है वहाँ कुटुंबके सदस्यों को गौण करना पड़े यह बहुत स्वाभाविक है। मेरी साता-असाता, मेरी अनुकूलता-प्रतिकूलता भी मुझे देखनेकी नहीं है। मुझे (बस) आत्मकल्याण करना है, इतना ही देखनेका रहता है।

उसके बाद संकल्प-विकल्पके प्रतिबंध, जो अपने मीसकोन्सेप्ट (मिथ्या अभिप्राय) के कारण खुदको संकल्प-विकल्प हुआ करते हैं मिथ्याग्रह के कारण, पूर्वग्रहके कारण हुआ करते हैं, उसे भी तोड़कर आत्मकल्याण करता है। इन चारों प्रतिबंधोंसे निकलनेके बाद सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि नहीं आये तो यह पाँचवाँ प्रतिबंध है। ऐसा यहाँ कहना है। यहाँ 'प्रतिबंध' शब्द लिखा है। **'यह परम दैन्यत्व जब तक आवरित रहा है तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है।'** प्रतिबंध शब्द लिया है। यह पाँचवाँ प्रतिबंध है। यह पाँचवाँ प्रतिबंध टूटे तो परम योग्यताकी प्राप्ति हुई, और वह जीव निर्वाणपदका अधिकारी होता है। यह एक इस विषयका बिलकुल SCIENCE है, विज्ञान है।

जब तक इस प्रकारके परिणाम नहीं हो तब तक जीव कोई आत्मकल्याणकी अपेक्षा रखे तो वह व्यर्थ है। और जीवको इसके अलावा परिभ्रमणके टूटनेका - मिटनेका दूसरा कोई प्रकार, दूसरा कोई रास्ता, दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। तीन कालमें यह एक ही उपाय है। विशेष अवसर पर...





२५४ पत्रांक चलता है। पत्रका विषय है, कि कैसे मुमुक्षुता शुरू हो और वह मुमुक्षुता मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें वर्धमान हो; यह इस पत्रका विषय है। जो जीव मोहासक्तिसे अकुलाकर एकमात्र मोक्षके लिये यत्न करता है तब, उसे मुमुक्षुताकी शुरुआत होती है। जिसके कारण स्वच्छंदका नाश होता है और दर्शनमोह तथा कषायरस भी मंद पड़ते हैं, एवं स्वरूपकी पहचान हो - ऐसा जो वीजज्ञान है, बोधबीज है, उसकी योग्यता तभी प्राप्त होती है। (जीतनी) योग्यता आती है उतना स्वच्छंद दबता है, घटता है और दर्शनमोह मंद पड़ता है। इसके बाद भी मार्गप्राप्तिको रोकनेवाले तीन कारण कहे हैं। उसमें (१) संसारके सुखकी अथवा मानसिक शांतिकी आशा-अपेक्षा या सुखेच्छा रहती है, तब तक जीवकी योग्यता रुक जाती है और मोक्षमार्ग की प्राप्ति होनेमें उस प्रकारके परिणाम जीवको बाधक कारणरूप होते हैं। उस प्रकारकी सुखेच्छा अभिप्रायप्रधानतासे समझने योग्य है। इतना होनेके बाद भी सत्पुरुषकी पहचान होकर उनमें परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न नहीं हो तो भी जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है और इसलिये मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती। इसके बाद ही स्वरूपकी पहचान होगी।

सत्पुरुषकी पहचान होनेके पहले कभी किसीको आत्मस्वरूपकी

पहचान होती नहीं, हो सकती भी नहीं; उसका उल्लेख 'कृपालुदेव' २१३ नंबरके पत्रमें करते हैं। पृष्ठ २६९ आखरीसे उपरका पेराग्राफ है।

'हे पुराणपुरुष!' पुराणपुरुष माने स्वयंकी आत्मा। **'हे पुराणपुरुष हम तेरेमें और सत्पुरुषमें कोई भेद ही नहीं समझते।'** क्यों ऐसा कहां ? तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले जीव आत्मा पर वजन देते हैं क्योंकि आत्मा वह स्वयं ही उपादान स्वरूप है और देव-गुरु-शास्त्र-सत्पुरुष निमित्तके स्थानमें हैं। सिद्धांत भी ऐसा ही कहता है कि वजन उपादान पर रहना चाहिये। अगर वजन निमित्त पर जायेगा तो अवश्य ही राग की उत्पत्ति होगी, ऐसे सिद्धांतको खोलते हैं। तब यहाँ मुमुक्षुता वर्धमान होनेका प्रकरण चलता है। इसमें एक महत्वकी बात दर्शानी है। सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि, इसे ज्ञानियोंने परमधर्म कहा है। परमेश्वरके प्रति जितना विनय आता है उतना ही विनय सत्पुरुषके प्रति आना चाहिये। तो इस बातको ज्यादा स्पष्ट करनेके लिये, और इस बातका पारमार्थिक रहस्य खोलनेके लिये, यहाँ एक विशेष बात की है।

'हे पुराणपुरुष!' पुराणपुरुष माने अपनी आत्मा। वे अपने उपादानको सम्बोधित करके कहते हैं **'हम तेरेमें और सत्पुरुषमें कोई भेद ही नहीं समझते'** ऐक्य-बुद्धि हुई है। सत्पुरुषकी पहचान हुई, उनके प्रति भगवान जैसी बुद्धि हुई, परमेश्वरबुद्धि हुई तो हम हमारी आत्माको भूल गये हैं। सत्पुरुषकी आत्मा निमित्त और हमारी आत्मा उपादान - यह बात अभी हमको गौण हो गई है। हम तेरमें और सत्पुरुषमें कोई भेद है - ऐसा नहीं समझते हैं। ऐसी एक दशा आती है। फिर भी तुझे खुलासा मांगना हो तो वह करते हैं। **'तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष लगते हैं।'** उसका

कारण देते हैं 'तू भी उसके अधीन ही रहा है।' सत्पुरुष की जो दृष्टि है उसके कबजेमें तू रहा है, तो तेरसे वे विशेष हुए कि नहीं हुए ? 'और हम सत्पुरुषको पहचाने बिना तूझे पहचान नहीं सके' यह भी एक विशेषता है। आत्मस्वरूपको पहचानना हो, तो इसके पहले सत्पुरुषकी पहचान हुई हो तो ही आत्मा की पहचान हो सके वरना तीन कालमें किसीको नहीं हो सकती, यह एक वस्तुस्थिति है। 'पावे नहीं गुरुगम बिना ये ही अनादि स्थित' (बिना नयन...काव्य) अनादिकी यह स्थिति है। 'हम सत्पुरुषको पहचाने बिना तूझे पहचान नहीं सके, यही तेरी दुर्घटना हममें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है' तूझे पहचाननेके लिये हमें बीचमें उनकी ज़रूरत अनिवार्य है। तू तो दुर्घट है। तूझे पहचानना, वह दुर्घट है। सत्पुरुषको पहचानना सरल है। (उन्हें) पूछते हैं तो ज़वाब तो देते हैं। तूझे पूछते हैं तो अकुलाहट होती है (तू) अंदरसे ज़वाब ही नहीं देता है। वे तो जवाब देते हैं इसलिये उनके प्रति प्रेम है। 'क्योंकि तू वशमें होने पर भी वे उन्मत नहीं है' तू पुराणपुरुष परमात्मा उनके वश हुआ है फिर भी तूझे वे पचा गए, उन्मत नहीं हुए, अहंकारी नहीं हुए। अनंतगुणोंकी संपत्ति अपनेमें देखने पर भी उसे हज़म कर जाते हैं, बाहर दिखने नहीं देते हैं (कि) मुझे क्या मिला है। मेरे घरमें कितनी संपत्ति है। यह दिखने नहीं देते। 'और तेरसे भी सरल हैं' क्योंकि जवाब देते हैं। 'इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें!' न्याय तूझको सोंपते हैं। तेरसे विशेष माने तो इसमें क्या गलत है ? यह एक लाक्षणिक पद्धतिसे सत्पुरुषको पहचाने बिना आत्माकी पहचान नहीं होती, इस सिद्धांतका प्रतिपादन किया है। बहुत लाक्षणिक पद्धतिसे प्रतिपादन किया है।

मुमुक्षुजीव (पहचान) स्वयं करता है। योग्यता स्वयंकी है; शक्ति

खुदकी है, फिर भी विनय एक ऐसी चीज़ है। अगर विनयके पहलूसे सोचनेमें आये तो मेरे पुरुषार्थसे, मेरी योग्यता से मुझे लाभ हुआ ऐसा विकल्प नहीं (आता, बल्कि) विकल्प ऐसा आयेगा कि हे प्रभ! आपकी कृपासे और आपके अनुग्रह से ही मुझे लाभ हुआ है। अगर आपकी कृपासे और आपके अनुग्रह नहीं होता तो मेरा क्या ठिकाना होता ? मैं कहाँ होता ? यह मैं समझ सकता हूँ। मैं कहीं लटकता रहता, भटकता रहता होता और परिभ्रमण करता रहता यह समझ सकता हूँ। अतः भले पुरुषार्थ खुद करता है, योग्यता खुदकी होती है परन्तु विनय तो ऐसा ही आता है। उपकारबुद्धि वहाँ तक आती है कि, वे छद्मस्थ होने पर भी, गृहस्थ होने पर भी, मुमुक्षुजीव उनमें परमेश्वरका ही दर्शन करता है। और तब ही उसे मार्गकी प्राप्ति निकट होती है, वहाँ तक मार्गप्राप्ति की समीपता नहीं होती। उसका उल्लेख भी 'कृपालुदेव'ने २२३ नंबरके पत्रमें किया है। 'परमात्मा और आत्माका एकरूप हो जाना (!) उस पेरेग्राफकी ६८ठी पंक्ति 'ज्ञानीपुरुष और परमात्मामें अंतर ही नहीं है, और जो कोई अंतर मानता है, उसे मार्गकी प्राप्ति परम विकट है' मार्ग से वह दूर है 'ज्ञानी तो परमात्मा ही है।' 'ही' शब्द लिया है। 'ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई है।' कभी किसीको नहीं हुई। 'इसलिए सर्वथा भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्य मूर्ति - ज्ञानीरूप परमात्माकी - का नमस्कार आदि भक्तिसे लेकर पराभक्तिके अंत तक एक लयसे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका आशय है।' शास्त्रका कहनेका लक्ष्यबिन्दु (आशय) यह है। सर्व प्रकारसे ज्ञानीकी भक्ति करना - नमस्कार से लेकर पराभक्ति तक। पराभक्तिमें भक्तिके सभी अंग आ गये। कोई बात बाकी नहीं रहती।

ज्ञानीके लिये कैसे शब्दका प्रयोग किया 'ऐसी देहधारी दिव्य मूर्ति-ज्ञानीरूप परमात्मा...' उसकी भक्ति करनी। और 'परमात्मा इस देहधारी रूपसे उत्पन्न हुआ है ऐसी ही ज्ञानीपुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होने पर भक्ति उदित होती है।' तभी यथार्थ भक्ति अथवा पर्याप्त भक्ति उत्पन्न होवे। पर्याप्त भक्ति कब उत्पन्न हो ? परमात्मा देहधारी रूप हुआ है वैसे ही ज्ञानीपुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होने पर (तब पर्याप्त भक्ति उत्पन्न होती है।) क्या कहना चाहते हैं ? जब किसी मुमुक्षुको सत्पुरुषका योग हो, उस योगमें पहचान हो और अंदरसे उसके आत्मामेंसे पुकार आती है कि अब इस जीवको भवभ्रमण नहीं है। निश्चितरूपसे मैं तिर गया। अब निश्चितरूपसे तिर जाऊँगा। अब मैं संसारमें नहीं डूबूँगा ऐसी अंदरसे प्रतीति आती है। गुरुदेवश्री (पू. कानजीस्वामी) उसे मोक्षका झंकार कहते थे। जब यह यथार्थ भूमिकामें आयेगा तब क्या कहेगा ? मुमुक्षुजीवको अंदरसे मोक्षका झंकार आता है। मेरा मोक्ष हो जायेगा ऐसा झंकार अंदरसे आता है। तब उसे कैसी बुद्धि उत्पन्न होती है ? परमात्मा देहधारीरूपसे हुआ। वैसे तो परमात्मा निरंजन निराकार है। परन्तु उन्होंने मेरे लिये अवतार लिया है। उसमेंसे (हिंदु धर्ममें) यह चोबीस अवतारका चला है। किसमें से चला ? यह सत्पुरुष का अवतार मेरे कल्याण हेतु हुआ है, ऐसा लगे, तब परमात्माने मेरे बीच अवतार लिया, ऐसा उगे लगा ऐसा भाव आता है; ऐसा कहते हैं। उसमें से फिर परमात्माके अवतारकी बात इधर-उधर चली, मूलमें बात ऐसी है। यह प्रकार मुमुक्षुजीवको उत्पन्न होता है और सच्ची भक्ति उत्पन्न होती है।

प्रश्न : यहाँ सत्पुरुषका विनय नहीं कहकर परम विनय क्यों कहा ?

समाधान : विनय शब्द कम पड़े ऐसा है। परम दैन्यत्व परम विनय, परम भक्ति ऐसे एकार्थमें लेना है।

सत्पुरुषमें और अपनी आत्मामें भेद नहीं रहता, ऐसा ऐक्यभाव होता है। 'और वह भक्ति क्रमशः पराभक्तिरूप होती है' यानी ऐक्यरूप धारण करती है 'इस विषय पर श्रीमद्भागवद् और गीतामें बहुत भेद को प्रकाशित करके उसी लक्षकी प्रशंसा की है।' यह बात जो भागवद् और गीतामें है, तीर्थकरदेवके मूल तत्त्वकी बात वहाँ उन लोगोंने पकड़ी है। यह भूल बात उन लोगोंका अच्छी लगनेसे रखी है 'अधिक क्या कहना ? ज्ञानी तीर्थकरदेवमें, परमज्ञानी ऐसे तीर्थकर देवमें लक्ष होनेके लिए जैन-धर्ममें भी पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्रमें 'णमो अरिहंताणं' पढके बाद सिद्ध को नमस्कार किया है।' जो अनादि नमस्कार मंत्र जैन शासनका है, उसमें भी पहले अरिहंत भगवानको नमस्कार करके बादमें सिद्ध भगवानको नमस्कार किया है - यह (उसका) संकेत है, ऐसा कहना है। नीचे पदवालेको पहले नमस्कार और ऊंचे पद वालेको बादमें नमस्कार, यह जैन धर्ममें अनादिसे चली हुई प्रणालिका है। अनादिका महामंत्र है। किसीने बनाया नहीं है। उसमें एक पारमार्थिक संकेत रहा हुआ है। उसका परमार्थ क्या सूचित करता है ? प्रथम ज्ञानीपुरुषकी भक्ति। नमस्कार मंत्र क्या लक्षगत कराता है ? 'प्रथम ज्ञानीपुरुषकी भक्ति और यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।' सत्पुरुषकी भक्ति (अगर) पहले नहीं हो तो परमात्माकी भक्ति नहीं होती और प्राप्ति भी नहीं होती तथा अपने आत्माकी भी प्राप्ति नहीं होती। यह संकेत तो नमस्कार मंत्रमें पहले से है, अनादिसे है। अगर जीवका लक्ष जाये तो समझ सके ऐसी बात है। 'कृपालुदेवने क्यों सत्पुरुषकी भक्ति पर इतना वजन दिया है ? दिव्यध्वनिमें भी वही बात है। शास्त्रमें

वही बात है। उन्हे ऐसा ही दिखता है जो कि यथार्थ है, और ऐसा नहीं दिखता हो तो खुदका पूर्वग्रह है, ऐसा समझने योग्य है।

सत्पुरुषकी भक्तिके लिये (इतना) कहना पड़े, यह वर्तमान कालके मुमुक्षुकी दशाकी करुणता है। अपने श्रीमुखसे यह बात की है, और फिर भी जीवका लक्ष अगर नहीं जाता है (तो) उसका कोई दूसरा उपाय इस जगतमें है ही नहीं।

इसलिये ऐसी परमात्मबुद्धि उत्पन्न नहीं हो, तब तक जीवकी योग्यता प्रतिबंधयुक्त होती है, और खुदको परिणाममें ही अवरोध आड़े खड़ा है। वह मोक्षमार्ग प्रति आगे नहीं बढ़ सकेगा।

अगर सत्पुरुषके प्रति परमेश्वरबुद्धि नहीं आती है तो वह प्रतिबंध है (और) परमेश्वरबुद्धि आनेके बाद कोई प्रतिबंध नहीं है। फिर उसे अंदरसे मोक्षका झंकार आयेगा। मार्गप्राप्ति फिर उसे निकट है, वरना विकट है, ऐसा है।

कल वहाँ तक स्वाध्याय हुआ था। अब आगे कहते हैं 'कदापि यह दोनों हुए हों।' दोनों हुए हों मतलब इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा ऐसा जो अवरोध है वह उसे मिटा हो और सत्पुरुषके प्रति परमेश्वर बुद्धि भी आई हो, यह दोनों हुए हो 'तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण पदार्थ - निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है।' क्या होता है ?

अब तीसरा कारण लेना है। आत्मस्वरूपकी पहचान नहीं हुई, (यह) पदार्थका अनिर्णय है। वहाँ तक मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं। जब कि जिसे ज्ञानीपुरुषकी पहचान होती है, उसे क्रमसे आत्मस्वरूपकी पहचान होती ही है। परन्तु जब ज्ञानीपुरुषकी पहचान हो साथ ही साथ स्वरूपकी भी पहचान हो ऐसा बनता नहीं। उसी समय आत्माकी

पहचान हो ऐसा बनता नहीं। जब ऐसा नहीं बनता है और बीचका समय जाता है ? यह काल कितना व्यतीत हो, इसका कोई नियम नहीं है। ऐसा नहीं है। पाँच, पंद्रह दिन, महिनो, दो-छे महिनो में उसे आत्मस्वरूपकी पहचान हो जाये ऐसा नियम नहीं है। किसीको विशेष समय लगता है और आयुष्य पूरा हो जाये तो भवांतरमें पहचान होती है। भवांतरमें कितना समय जायेगा उसका भी नियम नहीं है। ऐसी परिस्थिति बननेका कारण क्या ? इस पर 'कृपालुदेव' स्पष्टीकरण देते हैं। बहुत अच्छी बात दो जगह आई है। एक है पत्रांक २१२ और दूसरा पत्र है ५२२। पहले २१२ पत्रांकका उल्लेख लेते हैं। ज्ञानी पुरुषकी पहचान होती है, तब जीवके परिणाममें कैसा परिवर्तन होता है ? पत्र २१२, पृष्ठ संख्या २६८। 'जिसके वचनबलसे जीव निर्वाणमार्गको पाता है, ऐसी सजीवनमूर्तिका योग पूर्वकालमें जीवको बहुतबार हो गया है; परन्तु उसकी पहचान नहीं हुई है। जीवने पहचान करनेका प्रयत्न क्वचित् किया भी होगा, तथापि जड़ जमाई हुई सिद्धियोगादि ऋद्धियोगादि और दूसरी वैसी कामनोओंसे जीवकी अपनी दृष्टि मलिन थी। यदि दृष्टि मलिन हो तो वैसी सत्मूर्तिके प्रति भी बाह्य लक्ष रहता है, जिससे पहचान नहीं हो पाती' यह तो पहचान नहीं हो सकनेका कारण है 'और जब पहचान होती है तब' - अब यहीं पर जवाब है। 'और जब पहचान होती है तब जीवको कोई ऐसा अपूर्व स्नेह आता है' यह लक्षण है। कितना प्रेम आता है ? जिसकी हद नहीं उतना प्रेम आता है, अपूर्व स्नेह आता है। उतना माने कितना ? अब उसका वर्णन करते हैं 'कि उस मूर्तिके वियोगमें एक घड़ी भर भी जीना उसे विडंबनारूप लगता है', एक घड़ी भी वियोगमें रह सकता नहीं। एक घड़ीका वियोग हो तो अँचा-नीचा हो जाये ऐसी विजंबना होती

है अर्थात् उनके वियोगमें, वियोग तो होगा। संयोग-वियोग तो प्रारब्धके अनुसार होता है, 'उसके वियोगमें वह उदासीन भावसे उसीमें वृत्ति रखकर जीता है' फिर उसे दूसरी जगह रस नहीं पड़ता। उसका लक्ष वहीं रहा करता है। मेरा परमात्मा वहाँ है, यहाँ नहीं, उसका क्या ? दूसरी कोई जगह रस पड़ने दे नहीं। विरहकी वेदना निरस कर देती है। 'अन्य पदार्थोंका संयोग और मृत्यु - ये दोनों उसे समान हो गये होते हैं।' दूसरे पदार्थोंका संयोग - मृत्यु तुल्य लगता है। 'ऐसी दशा जब आती है, तब जीवको मार्ग बहुत निकट होता है, ऐसा समझे।' ठीक! मोक्षमार्ग ऐसे जीवको बहुत निकट होता है, ऐसा समझे। इस तरह एक प्रकारका (जीवका) परिणाम होता है।

दूसरा विशेष विस्तारसे परिणाममें कैसा-कैसा परिवर्तन होता है, उसको ५२२ पत्रांकमें बहुत विस्तारसे बात की है। पहलेसे ही यह बात चली है। पूरे पत्रका विषय यही है। 'जीवको ज्ञानी पुरुषकी पहचान होने पर, तथा प्रकारसे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका मंद हो जानेका प्रकार होना योग्य है।' उसकी प्रकृति पर चोट पड़ती है। क्या होता है ? - जीवको क्रोध, मान, माया, लोभ-कोई भी प्रकृति हो, और इन प्रकृतियोंका परिणाम चिकना होता हो, वे ढीले पड़ जाते हैं, फिके पड़ जाते हैं। और 'जिससे अनुक्रमसे वे परिक्षीणताको प्राप्त होते हैं।' ज्ञानदशामें यह नाशको प्राप्त होते हैं। अनंतानुबंधी नाश हो जाता है। 'ज्यों ज्यों जीवको सत्पुरुष की पहचान होती है' वैसे वैसे परिचय होता है। ज्यों ज्यों विश्वास आता है त्यों त्यों मताभिग्रह, दुराग्रहतादि भाव शिथिल होने लगते हैं। अपने अभिप्रायका आग्रह रहता नहीं। खींचतान नहीं करता है, ऐसी परिस्थिति आती है। न ही मताग्रह रहता है, न ही दुराग्रह रहता

है। 'और अपने दोषोंकी देखने की ओर चित्त मुड़ जाता है।' और उस जीवका अपक्षपातरूपसे अपने दोषोंको सहजमात्रमें देखने की ओर चित्त मुड़ जाता है। 'विकथा आदि भावमें नीरसता लगती है।' अतः चारों प्रकारकी जो विकथा हैं, उनमें उसको कहीं भी रस आता नहीं है। इसमें राजकथा (POLICICS) बड़ी है। समाचारपत्र पढ़ना, टी.वी. (TELEVISION) देखना, चर्चा करना - वह राजकथा है, विकथा है। इस जीवको यह कथा करनेसे कोई लाभ तो है नहीं परन्तु एकान्त नुकसान है। विकथामें राजकथा है, स्त्री कथा (है) भोजनकथा है, चौर्यकथा है - यह एक प्रकारकी मैली विद्या की कथा है। इसमें नीरसता लगे, 'जुगुप्सा लगे' अर्थात् धृणा होती है। उन बातोंमें धृणा हो जाती है, 'एलर्जी' हो जाती है, पसंद नहीं आती है, निषेध आता है और 'जीवको अनित्य आदि भावना का चिंतन करनेके प्रति बलवीर्यके स्फुरित होने में जिस प्रकारसे ज्ञानी पुरुषके समीप सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणामसे वह पंचविषयादिमें अनित्यादि भावको दृढ करता है।' स्वयंको प्राप्त जितने भी पंचेन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें अनित्यादि भावको दृढ करता है। कितने दृढ भावसे करता है ? ज्ञानीपुरुषके पाससे सुनकर जो दृढता करता है, ज्ञानीपुरुषको पहचानने के बाद। 'अर्थात् सत्पुरुषकी प्राप्ति होने पर ये सत्पुरुष है, इतना जानकर, सत्पुरुषको जानने से पहले जिस तरह आत्मा पंचविषयादि में रक्त था, उस तरह उसके पश्चात् रक्त नहीं रहता।'

पंचेन्द्रियों के विषयमें रसके परिणाममें बहुत अन्तर आ जाता है। सत्पुरुषकी पहचानके बाद पंचेन्द्रियोंके विषयमें उतना रस उसे आता नहीं है 'और अनुक्रमसे वह रक्तभाव मंद हो जाये, ऐसे वैराग्यमें जीव आ जाता है।' अब बहुत अच्छी बात लिखी है। जीव

वैराग्यमें आता है - अथवा 'सत्पुरुषका योग होने पश्चात् आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नहीं है।' अनन्तकालमें दुर्लभ ऐसा आत्मज्ञान; वह सत्पुरुषके योग के पश्चात् और पहचान होनेके पश्चात् (अब) कुछ भी दुर्लभ नहीं है। क्योंकि स्वभावकी पहचान हुई। तथापि शर्त इतनी है कि 'सत्पुरुषमें उनके वचनोंमें, उन वचनोंके आशय में जब तक प्रीति भक्ति होनी चाहिए। यदि सत्पुरुषकी पहचान हुई हो तो प्रीति भक्ति होती है। सत्पुरुषके प्रति अनन्य भक्ति आती है। उनके वचन भी बहुत प्रिय लगते हैं। अति प्रिय लगते हैं। दृष्टान्त ले; घरमें तीसरी पीढीमें बालकका जन्म हो और फिर बोलने लगे, तब तुतला-तुतलाकर बोलता है। बालक तो प्रिय होता है (जिससे उसकी बोली भी प्रिय लगती है!) बालक तुतलाकर बोलता है (तब) उसके साथ वह खुद भी तुतलाकर बोलने लगता है। उस बालकके प्रतिका प्रेम अगर इतना है, तो (जो) संसार सागरसे तिराते (हैं) वे परम तारणहार हैं; उनके प्रति कितना प्रेम आयेगा! उनकी वाणीके प्रति कितना प्रेम आयेगा! 'प्रीति-भक्ति' शब्द का प्रयोग किया है, अकेले भक्तिको नहीं लिया है। प्रीति पूर्वककी भक्ति होती है, तब उस जीवको आत्मज्ञान कोई दुर्लभ नहीं (होता) अगर ऐसा नहीं हो तो, तब तक जीवमें आत्मविचार भी उदित होने योग्य नहीं है; और वह जीवको सत्पुरुषका योग हुआ है - ऐसा सचमुच उस जीवको भासित हुआ है यों कहना भी कठिन है।' ये मुख्य-मुख्य परिणाम ले लिये है। जब इस प्रकारसे सत्पुरुषकी पहचान होती है तब परिणामके अंदर बहुत बड़ा परिवर्तन आता है। एक नये स्तरमें (STAGE) प्रवेश करता है। उसके बाद भी आत्मस्वरूपकी पहचान होनेमें समय लगता है; उसका कारण विपरीतता (भले ही) हट गई है, परन्तु योग्यताकी कमी है। जीवके परिणाममें निष्फलता अथवा

अप्राप्तिके कारणमें, दो प्रकार हैं। एक प्रकार विपरीतता का है और एक प्रकार योग्यताकी कमीका है। दो अलग-अलग बात है।

मताभिग्रह ज्ञानीपुरुषकी पहचान होनेके बाद स्वयंके दुराग्रह आदि विपर्यास है, वे बहुत घट जाते हैं। परिभ्रमणकी वेदना आनेके बाद पहचान होती है। उसके पहले निर्मलता नहीं आती। उसके पहले पहचान करनेयोग्य निर्मलता नहीं होती। परिभ्रमणकी वेदना यह जीवके परिणामकी ऐसी प्रक्रिया है कि जिसके कारणसे पूर्वके दूषित परिणामसे प्राप्त जो मलिनता है; उस मलिनता की धुलाई होती है। इस प्रकारसे वेदना है, वह मलिनताको धोनेका काम करती है और इसके कारणसे निर्मलता उत्पन्न होती है। (जब) यह निर्मलता भी अच्छी तरहसे वर्धमान होती है तब पहचान होती है।

जिज्ञासा : निर्मलता होनेके लिये अनुक्रमसे कैसे परिणाम होने चाहिये ?

समाधान : मोक्षका लक्ष बंधे, अपने दोष अपक्षपातरूपसे देखे, इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा न रहे, इतने स्तरोंसे (Stageमेंसे) अनुक्रमसे गुजरनेके बाद बारी आती है।

इस बातकी व्यवस्था सुनने पर अपने विषयमें (जो) कल्पना की होती है, वह छूट जाती है। झूठी कल्पना की हो वह भी छूट जाये। क्योंकि बहुत समयसे वांचन श्रवण करते हों, अपनेको मुमुक्षु मानते हो, कषाय मंद रहता हो, अनुकूलतामें फसा हुआ हो, कोई खबर नहीं पड़ती है। स्वयंको भ्रांति हो जाति है (कि) मैं भी समझता हूँ। आगे कहे हुए क्रममेंसे गुजरा हुआ है ? मुमुक्षुता कैसी होती है ? कैसे वर्द्धमान हो ? सभी स्तरों में से पसार होनेके बाद आत्मस्वरूपकी पहचान होती है और फिर पुरुषार्थ उत्पन्न होता है और उसके बाद आत्मस्वरूपका अनुभव होता है। उसमें भी बीचमें

समय जाता है। इसके बादका (जो) प्रकरण है, वह तीव्र मुमुक्षुताका प्रकरण है, वह यहाँ नहीं है। परन्तु बीचमें सत्पुरुषकी पहचान का जो स्तर (Stage) आता है। उस पहचानके होनेमें एक बहुत संक्षेपमें सिद्धान्त, 'कृपालुदेव'ने ३३५ पत्रमें उल्लेख किया है। 'जो वस्तुतः ज्ञानीको पहचानता है, वह ध्यानादिकी इच्छा नहीं करता।' दूसरे साधनको छोड़कर ध्यानादिमें बहुत आ जाते हैं। अनेक प्रकारके साधनको छोड़कर ध्यानादिमें बहुत आ जाते हैं। अनेक प्रकारके अलग-अलग वांचन, श्रवण, यह वह आदि (सब) छूट जाते हैं। 'जो वस्तुतः ज्ञानीको पहचानता है, वह ध्यानादिकी इच्छा नहीं करता। यह हमारा अंतरंग अभिप्राय है।' हमारे अन्दरका अभिप्राय यह है। ऊपर-ऊपरसे बोलेगा कि आप यह पढ़ो और वह पढ़ो। तथा पहचान करनेके बादकी बात दूसरी होती है।

अब पहचान किसे होती है ? यह अब सूत्रके जैसी बात की है 'मात्र ज्ञानीको चाहता है।' अब दूसरा कुछ भी नहीं चाहिए। मात्र ज्ञानीको चाहता है, वह दशाको चाहता नहीं है। ठीक! मानें सम्यक्दर्शन झट-पट हो जाए तो अच्छा ऐसा भी नहीं चाहता है। मात्र ज्ञानीको चाहता है। जगतके पदार्थोंकी तो बात ही नहीं है। जगतकी अनुकूलताओंको चाहता है, इसका तो प्रश्न ही नहीं होता है। यहाँ मात्र ज्ञानीको ही चाहता है अर्थात् एक ही (चाहता) है। 'जो मात्र ज्ञानी को चाहता है, पहचानता है और भजता है, वही वैसा होता है।' क्या लिया ? ज्ञानी होता है। कहते हैं; जो मात्र ज्ञानीको चाहता है, वह ज्ञानी हो जाता है। ऐसी जब परिस्थिति आती है तब यह पहचानता है। उसका लक्ष दूसरी जगह नहीं जाता है। पहचानने के बाद इतनी भक्ति आती है कि उन्हें ही भजता है। उसके परिणाम उनकी ही भजना करते हैं। सब कुछ

भूल जाता है, तभी वैसा हो जाता है। वही ज्ञानी होता है 'और वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।' इस प्रकारके मुमुक्षुको 'कृपालुदेव' उत्तम कोटिके मुमुक्षुमें ले गए हैं। जबसे परमेश्वरबुद्धि हुई, उनकी भजना हुई तबसे ही जीव उत्तम प्रकारकी मुमुक्षुतामें आया। अतः अब उसे आत्मस्वरूपकी पहचान सहजमात्रमें होगी। उसके बावजूद भी वास्तविक तत्त्व प्राप्त करने की कुछ योग्यता की कमी के कारण, स्पष्ट बात तो यह है कि योग्यता की ही कमी है। किस प्रकारकी योग्यताकी कमी है, यह जरा विचारने योग्य है।

सत्पुरुष प्रति अत्यन्त भक्ति होने के कारण उनकी भक्तिमें लीनता रहा करती है। उसे दूसरा कुछ सूझता ही नहीं है। अगर उसके बाद स्वरूप जिज्ञासा उत्पन्न होती है (कि) मूल स्वरूप कैसा है ? मेरा मूल स्वरूप कैसा है ? इसे पहचानता मुझे जरूरी है। जिसके अवलम्बनसे मोक्षमार्गके प्रारम्भसे लेकर सिद्धपदकी सभी दशाएँ रही हुई है, यह स्वरूप कैसा है ? स्वरूपकी ऐसी अन्तर जिज्ञासा उत्पन्न न हो और तथा प्रकार की क्षति रहा करे; उसे ('कृपालुदेव'ने) क्षति लिया है अथवा योग्यताकी थोड़ी कमी लिया है। बहुत कमी नहीं लिया क्योंकि थोड़ी निर्मलता तो आई है। और सत्पुरुषकी भक्तिके परिणामसे निर्मलता बढ़ती जायेगी, इसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है; तथा आगे जाकर स्वरूप की पहचान करके स्वरूपको प्राप्त करेगा इसमें भी कोई शंका नहीं है। इसमें कोई बदलाव नहीं। परन्तु बीचमें जो काल जाता है उतने तक ही इसकी चर्चा करते हैं।

जिज्ञासा : करना क्या ? यह प्रश्न बेचैन करता है।

समाधान : जब कोई भी जीव इस पत्रमें प्रतिपादित किया हुआ है ऐसे क्रममें प्रवेश करता है; तब ऊपर ऊपर भी भूमिकाके

परिणाम अपने आप आते हैं। करने बरने का सवाल ही नहीं है। कर्तृत्वबुद्धि वहाँ से ही टूटने लगती है। जैसे मोहासक्तिके परिणामसे अकुलाकर (एक) मोक्षका ध्येय बांधा कि अपने दोष अपक्षपातरूपसे देखनेमें चित मुड़ जायेगा, स्वच्छन्द दबेगा, दर्शनमोह दबकरके निर्मलता आयेगी और अनुक्रमसे आगे-आगेकी भूमिका में जीवके परिणाम आते जायेंगे क्योंकि निर्मलता चालू है। अतः क्या करना ? यह प्रश्न नहीं है। अपनेआप क्या होता है, वह समझमें आता है, होने लगता है और समझमें आने लगता है। १६५ पत्रांकमें कहा है इसमें संकेत किया है 'अनन्तकालसे जीवका परिभ्रमण हो रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ? और वह क्या करनेसे हो ?' मार्गकी इच्छा जिसे उत्पन्न हुई है, मोक्षमार्गकी इच्छा जिसे उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पों को छोड़कर इस एक विकल्पको बारम्बार स्मरण करना आवश्यक है। 'इस वाक्यमें अनन्त अर्थ समाया हुआ है और इस वाक्यमें कही हुई चिंतना किये बिना' मात्र चिंतना नहीं, 'उसके लिए दृढ होकर तरसे बिना मार्गकी दिशाका भी अल्प मान नहीं होता, पूर्वमें हुआ नहीं, और भविष्य कालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसा जाना है।' हमारे अनुभवसे यह बात जानी है। इसलिए आप सबको, किसी भी मुमुक्षुको छोड़ा नहीं, यही देखना (खोजना) है कि यह तड़पन कैसे उत्पन्न हो, वेदनामें कैसे आ सके ? सभीको यही करनेका है। 'उसके बाद दूसरा क्या जानना ?' करना क्या ? वह बादमें मालूम होता है।

इसके पहले वास्तवमें खुद को अपने आत्मकल्याणके लिए क्या करना ? उसकी सूझ, अन्दरसे सूझ नहीं आती है। इस तड़पनमें आने के बाद जो निर्मलता आती है। उस निर्मलता के बाद फिर जानना क्या ? करना क्या ? इसके बाद मालूम होता है, समझमें

आता है। फिर करनेका प्रश्न नहीं रहता, अर्थात् 'मालूम' शब्द लिया है। फिर अपने-आप ऊपर-ऊपरकी भूमिका आती जाती है।

जिज्ञासा : समय व्यतीत होता है, वह खटकता है। उसका क्या ?

समाधान : खटकता है, यह अच्छा है। खटकना भी चाहिये और यह खटकेगा भी। समय ज्यादा निकलता है, वह पोसाता नहीं है; यह समझमें आये ऐसी बात है। जितनी खुदकी योग्यताकी कमी है उतना समय जाता है।

कोई जीव सुबह सत्पुरुषको पहचानता है और शामको सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लेता है। आत्मस्वरूपकी पहचान बीचमें आ रही जाती है। ऐसे जीव भी होते हैं, (जिन्हें) योग्यता की कमी नहीं होती और आत्मशांतिके लिये जो तड़पन है, तरसना और वेदना है, वह जितनी तीव्रतासे आती है उतनी ही योग्यताकी क्षति कम होती है। पूज्य सोगानीजीका दृष्टांत है। प्राण छूट जाये ऐसी वेदना आई। कैसी वेदना आयी ? मेरे प्राण छूट जायेंगे। जिन्दा रहना मुश्किल हो जाये, ऐसी अप्राप्तिकी वेदना आती है। ऐसी आत्मशांतिकी अप्राप्ति की वेदना आती है तब उसे सत्पुरुष मिले, उनकी वाणी मिले, उनका योग मिले, अर्थात् उनकी (वाणीको) सीधे ही अंदरमें उतार चूस ले। इसके बाद आड़े-तिरछे जानेके कोई प्रकार के परिणाम उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि जगतमें से तो पहले ही बाहर (out) हो गया है। जगतका विकल्प क्या करें ? जगतमें कुटुंब-बुटुंब सब आ जाता है। सब जगहसे उसका चित्त उठ गया है। इसलिये कहा 'कदाचित् ये दोनों प्राप्त हो तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण' इतनी निर्मलता अभी पूर्व भूमिकामें आनेकी बाकी हो, योग्यताकी न्यूनताके कारण अंतर खोजमें

वह नहीं आये, पदार्थ निर्णय नहीं हुआ हो। आत्मस्वरूपकी पहचान नहीं हुई, यह तीसरा दोष है। 'तो चित्त व्याकुल रहता है' क्योंकि इस बातका समाधान नहीं है।

जब स्वयंके आत्मस्वरूपका प्रतिभास होता है, स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति आती है, तब जीवको असमाधानका कोई कारण रहता नहीं है। सर्वांग समाधान रूप, ऐसा स्वयंका परम तत्त्व है, इसका जो प्रत्यक्ष स्वरूप है। इसका स्वरूप कैसा है ? अनंत प्रत्यक्ष ऐसा इसका जो स्वरूप है, उसके वेदनके प्रत्यक्ष अंशसे भावभासन आता है, तब उसे असमाधान नहीं रहता है। उसके पहले इस विषयमें असमाधान होता है और व्याकुलता की उत्पत्ति होती है और किसी समय किसी जीवको स्वयं जितना आगे बढ़ा है; उस सम्बन्धित मिथ्या समता भी आती है, जो आनी नहीं चाहिए। मेरे परिणाम तो इस तरफ बहुत ढले हुए हैं। पहले तो ढले हुए नहीं थे। अभी तो परिणाम बहुत इस तरफ ढल गए हैं (इत्यादि)

पहले जो नीचेकी दशा थी, यह दृष्टि छोड़ देनेकी है। ऊपरकी दृष्टि नहीं हुई, उसकी ओर दृष्टि रहनी चाहिए। कैसे ऊपरका काम होता नहीं है ? (अगर ऊपरकी दृष्टि नहीं हो) तो मिथ्या समता आती है।

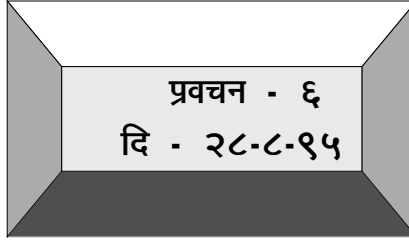
जिज्ञासा : मुमुक्षुताके योग्य परिणाम होने के बावजूद भी भूल (क्यों) होती है ?

समाधान : यही तो कहना चाहते हैं।

यह बात उस भूमिकामें आनेके बाद ही समझमें आती है। इसमें बहुत खतरा है। जब तक स्वयं अपनी स्वरूपकी पहचान तक नहीं पहुँचे, पदार्थ-निर्णय तक नहीं पहुँचे; वहाँ तक मोक्षमार्गका अनन्य कारण उत्पन्न नहीं हुआ। और तब तक मार्ग प्राप्तिमें जो कोई

दूसरे-दूसरे परिणाम होते हैं, होनेकी सम्भावना है। और बहुत ही सूक्ष्म चर्चा इस पत्रमें इस जगहमें 'कृपालुदेव'ने अनुभवसे की है। बहुत बातें लिखी हैं। साधारण पत्र नहीं है क्योंकि नीचे लिखा है; 'हमने इसमें बहुत गूढ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है;' ऐसा लिखा है। बहुत सी बातें लिखी हैं। बहुत बारीकी से, बहुत सूक्ष्मरूपसे; इसका स्वाध्याय करना योग्य है। विशेषरूपसे कल लेंगे।





पत्रांक २५४ चल रहा है। पत्रका विषय है - मुमुक्षुता कैसी होती है ? किस प्रकारसे शुरू हो ? वर्धमान हो तो कैसे परिणाम हो ? आगे बढ़नेमें मार्गप्राप्तिमें मुमुक्षुको किस किस प्रकारके अवरोध आते हैं ? और वे अवरोध कैसे मिटे ? मुमुक्षुजीव स्वरूपकी पहचान करे, स्वरूप सन्मुख हो, कि जिससे अल्पकालमें मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो - यह इस पत्रका विषय है।

इसमें अवरोधरूप तीन कारणोंकी चर्चा की है। जिस जीव को दृढ़ मुमुक्षुता प्राप्त हुई है, अपने दोषोंका अपक्षपातरूपसे अवलोकन भी चालू हुआ है; ऐसे जीवका स्वच्छंद भी बहुत घटा हुआ होने पर भी दर्शनमोह मंद हुआ होने पर भी, इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा यानी कषायकी मंदता और मानसिक शांतिमें कभी ठीकपना आ जाता है। ठीकपना रहा करता है तो (इससे) उसकी योग्यता रुक जाती है। वहाँसे आगे बढ़े (कि) मुझे मेरे आत्मस्वरूप और आत्मशांतिके सिवाय दूसरा कुछ नहीं चाहिये। एक मुझे मेरा आत्मा ही चाहिये - ऐसे दृढ़ भावसे आगे बढ़े, तो फिर सत्पुरुषकी पहचान होकर सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि होना आवश्यक है।

सिद्धांत यह कहता है कि किसी भी जीवको प्रत्यक्ष सत्पुरुषके योगमें ही देशनालब्धि प्राप्त होती है और उससे आगे जाकर स्वरूपकी

पहचान-बीजज्ञानकी प्राप्ति होती है। बीजज्ञानकी प्राप्ति और देशनालब्धि यह प्रत्यक्षयोग बिना किसी भी जीवको प्राप्त नहीं होती। अतः मुमुक्षुतामें आगे बढ़े हुए जीवको खुद, मोक्षमार्गसे अनजान होनेके कारण; ऐसा अभिप्राय और ऐसा विचार अवश्य रहता है कि मुझे किसी धर्मात्माका मोक्षमार्गी ज्ञानी पुरुषका प्रत्यक्ष संग रहे। प्रत्यक्ष में उन्हें गुरु मानूं और मेरे परिणामोंकी किताब खोलूँ।

जिस प्रकारकी योग्यता खुदको समझमें नहीं आये ऐसी परिस्थिति ज्ञानीपुरुषको समझमें आती है और कैसे आगे बढ़ना ? इसके लिये मार्गदर्शनकी जरूरत (होती) है; यह सत्पुरुषके ज्ञानमें आता है, और विशेष सुपात्र होय तो उसे बीजज्ञानकी प्राप्ति होती है, और विशेष सुपात्र हो तो उसे बीजज्ञानकी प्राप्ति होती है। सत्पुरुषके प्रत्यक्ष योगके बिना ये दोनों उपलब्धि संभवित नहीं हैं ऐसा सिद्धांत है। सिद्धांत है माने ऐसा वस्तुका स्वरूप है। उसमें कोई फेरफार (बदलाव) कर सके ऐसी परिस्थिति नहीं है। इसको लेकर ऐसे भी विचारना योग्य नहीं है कि जीव पराधीन है। (और) इसको लेकर ऐसा भी विचारना योग्य नहीं है कि इसका निमित्ताधीन-दृष्टि से प्रतिपादन है। यह एक वस्तुस्थिति है।

'यही अनादि स्थित' 'पावे नहीं गुरुगम बिना यही अनादि स्थित' (बिना नयन काव्य) यह वस्तुका स्वरूप है और यह वास्तविकता है। वस्तु स्वरूपकी यह वास्तविकता है और वास्तविक परिणमनसे वह बात समझमें आती है। दृष्टांत लें तो।

यह जीव शरीर विज्ञानसे अनजान है। जन्मसे शरीर का संयोग है परन्तु शरीरका विज्ञान नहीं जानता है कि शरीरके अंदर कैसी कैसी रचना है और इस रचनाके अनुकूल और प्रतिकूल क्या क्या और किस किस प्रकारसे है, वह उसे खबर नहीं है। इसलिये

कभी भी शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, शरीरमें रोग उत्पन्न हो जाता है। शरीरमें रोग उत्पन्न हो, वेदना हो, पीड़ा हो, असुख (दुःख) हो तब कोई भी कम अक्कलवालेको (भी) समझाने की जरूरत नहीं रहती है कि वैद्य, डोक्टरके पास उसे जाना चाहिये। इतना समझाना नहीं पड़ता क्योंकि यह तो उस विषयका वास्तविक ज्ञान है। जब दर्द सहन नहीं हो तब उस दर्दके जानकारके पास जाकर दर्द मिटाना ही पड़े। वैसे ही इस जीवको भवरोगका दुःख लगता हो और यह भवरोग मिटानेवाले सद्गुरु है ज्ञानीपुरुष है उसके पास जाना चाहिये, ऐसी वास्तविक समझ सहाय किसीको भी होना जरूरी है। यह एक दर्शनमोहका प्रभाव है कि जीवको सूझ नहीं आती है, उससे ज्यादा दर्शनमोहका प्रभाव तो ऐसा है कि यह बात समझाने पर भी समझमें नहीं आती है, कहने पर भी ध्यान नहीं आता है। 'कृपालुदेव'ने ठोक बजाकर वह बात कही है। कितने ही पत्रमें यह बात करते हैं। फिर भी अगर इस जीवका ध्यान नहीं जाता है, तो उसको महामोहनीयकी प्रबलता वर्तती है; ऐसा ही समझना रहा क्योंकि मोह है वह जीवको भ्रांति पैदा करता है और स्वयंको हितकी सूझ आने नहीं देता है।

जिज्ञासा : ज्ञानीपुरुषके पास क्या अपने सभी परिणामों को कहना चाहिए ?

समाधान : गोपन किये (छुपाये) बिना किसी भी तरह के संकोच बिना; जैसे परिणाम हैं; वैसे दिखाना। अतः ज्ञानीपुरुषको उसकी योग्यताका ख्याल आता है और उस योग्यतामें सुधार कैसे करना ? उसका ख्याल भी उन्हें होता है। अतः यथायोग्य प्रकारका मार्गदर्शन देते हैं और जीव आगे बढ़ता है।

मार्गदर्शन लिये अपने परिणाम खोलने के लिये उसमें खुदकी

नम्रता चाहिये, उसमें सत्पुरुषके प्रति आत्मीयता चाहिये, मध्यस्थता चाहिये और सबसे बड़ा गुण-ऐसी सरलता चाहिये। और अगर सरलता नहीं होती है तो उसमेंसे थोड़ा छुपानेकी वृत्ति आये बिना नहीं रहती। अतः इतने गुण तो मुमुक्षुको इस कार्यमें संपन्न होते हैं, तब वह अपने परिणामका निवेदन करता है। और इस निवेदनके करनेमें यह बात अपने आप आ जाती है कि यह (जीव) आज्ञांकितरूपसे सत्संगकी उपासना करना चाहता है। अतः आज्ञाकारिताका जो गुण है, वह गुण भी उसे प्राप्त होता है।

सत्पुरुषको पहचाननेके बाद भी जीवको अपने निज-स्वरूपका निर्णय तत्काल नहीं बनता है, और नहीं बनता है तो क्यों नहीं बनता है ? और नहीं बनता है तब उसकी योग्यता के अवरोधक कैसे-कैसे परिणाम होते हैं, उसकी बहुत सूक्ष्म चर्चा इस जगह 'कृपालुदेवने की है।

'कदाचित ये दोनो प्राप्त हो गए हो' यहाँसे स्वाध्याय (आगे) चालू करें। 'ये दोनो' यानी इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा न रही हो, और सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि आयी हो; विनयकी न्यूनता चली गई हो, पूरा विनय आ गया हो। यह बहुत अनुभवपूर्ण प्रतिपादन वह है **'कदाचित ये दोनों प्राप्त हो गए हों तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो'** - ऐसा बनता है, कुछ एक को पदार्थनिर्णय नहीं हुआ हो। वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनता किस प्रकारकी है यह थोड़ी समझने योग्य है।

जब सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि आती है, तब उनकी भक्तिमें लीनता वर्तती है। सत्पुरुषकी भक्तिमें इतना लीन वर्तता है कि तब उसे स्वरूपकी पहचान करनेकी जो वृत्ति है, वह वृत्ति अमुक काल तक

आती ही नहीं है, अतः अमुक समय निकल जाता है। जीवंत दृष्टांत लें तो पू. सौभाग्यभाईका दृष्टांत बहुत जीवंत दृष्टांत है।

‘कृपालुदेव’को उन्होंने पहचान लिया था। उनकी योग्यता विशेष थी, अतः शुरुसे ‘कृपालुदेव’ भी ऐसा चाहते थे (कि) ऐसे जीवका सत्संग स्वयंके (‘कृपालुदेव’के) परिणमनमें (आत्मभाव) आविर्भाव होनेमें विशेष उपकारी है, इसलिये (ही) सर्वोत्तम उपकारी ऐसा विशेषण भी दिया है। ‘पूज्य केवल बीज संपन्न, सर्वोत्तम उपकारी श्री सौभाग्यभाई’ बहुत करके १६५ पत्रांकमें है। इस प्रकारका विशेषण ‘केवलबीज संपन्न सर्वोत्तम उपकारी’ ऐसा जो संबोधन दूसरेको नहीं करते। कोई मुमुक्षुको ऐसा संबोधन नहीं करते।

केवल-बीज संपन्न माने क्या ? ‘कृपालुदेव’की उन्हें पहचान हो चुकी थी। वह (पहचान) सम्यक्दर्शनका बीज होनेसे और समकित, केवलज्ञानका बीज होनेसे, उसे सीधा केवलज्ञानके साथ जोड़ा है।

श्री सौभाग्यभाईको बीजज्ञानकी प्राप्ति हो ऐसा श्री ‘कृपालुदेव’ इच्छते थे। पहले बीजज्ञानकी प्राप्ति होती है और बादमें ही आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा क्रम होनेसे उन्होंने वचनबद्धता तो आगेसे ही कर ली थी। श्री सौभाग्यभाईको २५९ पत्रमें बह वचन दिया था। ‘हम इसी भवमें ही आपको मोक्षमार्गकी प्राप्ति करायेंगे अथवा ज्ञान प्राप्ति करायेंगे’ यह बात उन्होंने २५९ पत्रमें की है। ‘ज्ञानधारा सम्बन्धी मूलमार्ग हम आपके इस बारके समागममें थोड़ा भी कहेंगे; और वह मार्ग पूरी तरह इसी जन्ममें आपसे कहेंगे यों हमें हरिकी प्रेरणा हो, ऐसा लगता है। आपने हमारे लिये जन्म धारण किया होगा। (वे उपकारी है न!) आप हमारे अथाह उपकारी हैं। आपने हमें अपनी इच्छाका सुख दिया है, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदला दें ? परन्तु हमें लगता है

कि हरि हमारे हाथसे आपको पराभक्ति दिलायेंगे; हरिके स्वरूपका ज्ञान करायेंगे (यानी आत्मज्ञान करायेंगे) और इसे ही हम अपना बड़ा भाग्योदय मानेंगे।'

यह वचनबद्धता २४वीं सालमें ही है। (और तब सौभाग्यभाई की उम्र ६८ वर्षकी थी। दोनों के बीच ४४ वर्षका अंतर था।) पहचान होनेके बाद, बीजज्ञान हो उसके पहले परमेश्वरबुद्धि आती है। अतः प्रेमसमाधिमें झूलते हैं। वे उसमेंसे बाहर निकलते ही नहीं थे और स्वरूपकी पहचान करनेकी, आत्मज्ञान करनेकी उन्हें जैसे कुछ पड़ी ही नहीं थी। ऐसी स्थितिमें जब वर्तते थे, तब 'कृपालुदेव'को विकल्प आता है कि ये (श्री सौभाग्यभाई) आगे बढ़े तो अच्छा। अतः उन्होंने कहा कि आगेकी दशा क्यों आपको आती नहीं ? यह बात उन्होंने २४७ पत्रमें की है। तो भी वे समाधिमें से बाहर निकलते नहीं थे। फिर २९वीं सालमें ४७९ और ४७२ पत्रमें बीजज्ञान सम्बन्धित सुधारसकी उपमा देकर भेदज्ञानका विषय उन्होंने छोड़ा। खुले पत्रमें यह बात छेड़नेका प्रयत्न किया परन्तु सौभाग्यभाई दाद देते नहीं थे। उन्हे 'कृपालुदेव'के अलावा दूसरा कुछ दिखता ही नहीं था, मस्त थे; उसमें। इसके बाद अन्तमें बहुत विचक्षणतासे ट्रीटमेंट देते हैं।

उन्होंने देखा कि अब उनकी आयु पूर्ण होनेकी तैयारी है। बीमारीके बिस्तर पर, वृद्धावस्थामें आ पड़े हैं। तब हुआ (कि) अब क्या करना ? शरीर अशक्त होते जा रहा है, अतः बहुत विचक्षणतासे प्रयोग किया। छ-सात महिने तक उनकी विनतीको उन्होंने लम्बाकर रखी। 'आप प्रत्यक्ष आकर दर्शन दो। मुझे आपके दर्शनकी आतुरता है। मेरी शारीरिक स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं मुसाफरी कर सकूँ।' 'कृपालुदेव' ३० वीं सालमें ववाणिया और मोरबीके बीच रहे

थे। कितनेही पत्र मोरबीसे ही लिखे हैं। कितने ही पत्र ववाणियामें लिखे हुए हैं, अतः बहुत दूर नहीं थे। मुंबई के बदले सायला नजदीक था, तो भी ईरादापूर्वक आनेका लिखते पर आते नहीं थे। अतः ईरादापूर्वक गिनना चाहिए ना ? हरएक पत्रमें ऐसे लिखेंगे कि दस दिनमें आता हूँ, दस-पन्द्रह दिनमें समझो आया, और आये नहीं। सात-आठ महिने तक सौभाग्यभाईको लटकाया। खूब खींचा, खूब खींचा। फिर सहन नहीं हुआ। बीचमें सौभाग्यभाईने ओलमापूर्ण पत्र लिखे, कडक रूपसे लिखे। प्रेम था ना ? इसलिए लिखनेका अधिकार था, उनको। ये ('कृपालुदेव') खींचतें जायें, खींचते जायें। (जब सौभाग्यभाईसे सहन नहीं हुआ तब) अंतिम पत्रमें ऐसा आया कि 'अब बीमारीके कारणसे मेरा देह नहीं छूटेगा, परन्तु तुम्हारे वियोगके कारणसे मेरा देह छूट जायेगा। आना हो तो आना और नहीं आना हो तो तुम जानो।' उसके बाद 'कृपालुदेव' तुरन्त ही आये थे। आनेके बाद पांच-छ दिन सायला रुके थे फिर उन्हें ईडर ले गए थे। उनके परिवारके सदस्य ना करते हैं - 'बापूजीकी तबियत इतनी अधिक नाजूक है कि जरा भी मुसाफरी कर सकें, ऐसा देह ही नहीं। इसलिए तो आपके दर्शनके लिए ववाणिया भी नहीं आये, मोरबी भी नहीं आ सके। मोरबी तो ३३ कि.मी. (किलोमिटर) नजदीक है तो भी नहीं आ सके, तो फिर ईडर तो किस तरह आ सकेंगे ?' 'कृपालुदेव' कहते हैं कि 'यह माथाकूट करनेकी आपको जरूरत नहीं है। यह चिन्ता आपको करनेकी जरूरत नहीं है। उनको ले जाता हूँ।' ईडर ले गए। ईडरमें उन्हें बीजज्ञान दिया। ईडरसे आनेके बाद एक ही सप्ताहमें सौभाग्यभाईको अपने स्वरूपका आत्मज्ञान हुआ। अनन्तभवका क्षय एक सप्ताहमें हो गया। आयु उसके बाद १७-१८ दिन बाकी था। और इन १७-१८ दिनमें

बहुत ही पुरुषार्थयुक्त दशा उनकी रही है। शरीर कमजोर था परन्तु आत्मा जोरमें था। आत्मा कमजोर नहीं पड़ा था। आत्मा बलवान रहा, इस दशामें वे आए हुए थे। कहनेका आशय यह है कि बहुत आगे बढ़े हुए थे। पात्रता बहुत विशेष थी। निर्मलता बहुत थी। तो भी २३ वें वर्षमें ('कृपालुदेव'का) संयोग हुआ और ३०वें वर्षमें बीजज्ञान हुआ और सम्यक्ज्ञानकी प्राप्ति हुई। ६-७ वर्षका अन्तराल बीचमें रहा।

ऐसा क्यों होता है ? इसकी चर्चा ('कृपालुदेव') करते हैं। 'वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण', जब किसी भी मुमुक्षु जीवको बीजज्ञानकी प्राप्ति होती है तब ज्ञानीपुरुष उसे अपने अन्तरंग परिणाम, प्रत्येक चेष्टाके द्वारा दर्शाते हैं। दर्शाते हैं और आज्ञा करते हैं कि 'तुम देखो! तुम्हारेमें तुम्हारे परिणामको तुम देखो! तुम्हारेमें जो ज्ञानधारा चल रही है।' ज्ञानधारा, यह शब्द २५९ पत्रमें प्रयोग किया है। "ज्ञानधारा सम्बंधी मूल मार्ग हम आपसे इस बारके समागम में थोडा भी कहेंगे।" कहा होगा। सामने कहा हो तो वह पत्रमें आये नहीं। अपने अंदर जो ज्ञानधारा चल रही है, उस ज्ञानधाराका अवलोकन कराते हैं। ज्ञानधारा; यह है कि प्रत्येक मनुष्यकी जो ज्ञानकी पर्याय है, जिसे हमलोग ज्ञानोपयोग कहते हैं; इस ज्ञानके उपयोगके दो अंग हैं, एक बहिरंग है - बाह्य अंग है और एक अंतरंग है। अंतरंग है, वह ज्ञानधारा है। और जो बहिरंग है - बाह्य उपयोग है, वह ज्ञान विशेष है तथा जो अंतरंग है, वह ज्ञान सामान्य है। दोनों होकर स्व-पर प्रकाशकपना है। पर्याय एक है (परन्तु) अंग इसके दो हैं।

इसमें जो ज्ञान विशेष है, उतने अंगमें अनेक ज्ञेयोंके प्रतिबिम्ब झलकते हैं, अनेक विशेषताएँ हुआ करती हैं। जो जो ज्ञेय सामने

आते हैं, उस उस ज्ञेयोंके आकारका ज्ञेयाकार ज्ञान परिणमता है। ज्ञेयके आकारकी ज्ञेयसादृश्य पर्याय होती है बाह्यअंगमें - अन्तरंग जो ज्ञान सामान्य है वह एकधारारूप वैसे का वैसा ही स्वसंवेदनरूप - ज्ञानवेदनरूप वैसे का वैसा ही चालू रहता है। पर पदार्थके प्रतिबिम्बकी पहुँच, पर-पदार्थके प्रतिबिम्बका असर; ज्ञान सामान्य पर नहीं आता है। उसकी मर्यादा ज्ञान विशेष तक ही है। एक ही पर्यायमें दोनों हैं। दृष्टान्त लें तो : स्फटिक रत्न है। स्फटिक पत्थर है; उसमें निर्मलता अथवा जो पारदर्शकपना है, वह उसकी सामान्य दशा है और जिस जिस रंगका पदार्थ उसके समीप रखनेमें आता है - लाल, काला, पीला - जैसे ही उसके सामने रखनेमें आता है कि उसकी परछाई (स्फटिककी) निर्मलताके कारण, उसमें उत्पन्न होती है। तब पूरा स्फटिक रंगीन दिखता है। जब पूरा स्फटिक रंगीन दिखता है और अलग-अलग रंगवाला दिखता है, जैसे फूल या कपड़ा पीछे रखें तो वैसे ही (रंगका) दिखता है तब उसकी निर्मलताका नाश हुआ है कि नहीं हुआ है ? ज़रा भी नहीं। पूरा स्फटिक काला, काला, एकदम काला दिखता है तब उसकी निर्मलता उतनी की उतनी अबाधितरूपसे, अविकारीरूपसे, विकृत हुए बिना वैसी की वैसी ही रहती है। यह निर्मलता उसकी सामान्य अवस्था है और काला-पीलापना होता है, वह उसकी विशेष अवस्था है। वैसे आत्मामें जो ज्ञान है, उपयोगमें जो ज्ञ...ज्ञ...पना जो चालू है; उसमें ज्ञानवेदन है, वह ज्ञानसामान्यकी अवस्था है। यह ज्ञानकी धारा सभी जीवोंको सतत चलती है और यही जीवका स्वभाव-स्वरूप, स्वभावगत लक्षण है। जहाँसे स्वरूपकी पहचान होती है। लक्षणसे लक्षके स्वरूपकी पहचान होती है।

अब प्रयोग किस प्रकारसे करना ?

अपने ज्ञानविशेष अंगको गौण करके अथवा अनेक ज्ञेय जिसमें प्रतिबिंबित होते हैं ऐसे बाह्यज्ञानको लक्षमें से छोड़कर; ज्ञेयाकार ज्ञानकी सरासर उपेक्षा करके; अपने ज्ञानसामान्यमें जो ज्ञानवेदन है, यह अनुभव अंश है, उसके आधारसे अनुभवांशसे प्रतीति आयेगी।

७५९ पत्रमें कहा है इस अनुभव अंशको अनुभव करते हुए ऐसा अनुभवमें आता है कि मेरा आत्मा कभी की किसी भी प्रकारके ज्ञेयोंसे विकारको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूपसे मेरा ज्ञान अविकारी रहता है। ज्ञानसामान्य तो उसमें वैसा ही वैसा रहता है। अनेक ज्ञेय; ज्ञानविशेषमें जाननेमें आने पर भी ज्ञानसामान्य वैसे का वैसा ही, अविकृत रहता है। ऐसी जो ज्ञानधारा है; ऐसा जो अनुभव है; यह अनुभव उसको स्वभावकी पहचान कराता है। जब इस वेदनसे - अपने ज्ञानवेदनसे; चालू ज्ञान जब स्वयं अपनेको ही वेदता है तब यह ज्ञान कषायके अभाव स्वभावरूप होनेके कारण, निराकुलभावरूप होनेसे, निराकुलतारूपकी सुखकी भी पहचान होती है। कोई भी जीव भले ही कितने कम उघाडवाला हो तो भी, ज्ञानका उघाड़ भले ही कितना कम हो तो भी; स्वभावकी पहचानके समय स्वयंका ज्ञान, ज्ञानवेदनरूप है। इस ज्ञानका रूप, सुख है। यह दो पहलू तो उनको पहचानते समय अवश्य ही खबर पडती है। यह परिणाम के सतत वर्तमान अनुभव परसे, यह सामर्थ्य अनंत रहा हुआ है - उस तरह सामर्थ्यका पता लग जाता है। सभी गुणोंकी खबर पड़े बिना ऐसे ऐसे अनंत गुणों, उनका सामर्थ्य; मेरे स्वरूपमें रहा हुआ है, इस प्रकारका एक Concept (अभिप्रायका) स्वीकार उत्पन्न हो जाता है। अपना अनंत सामर्थ्य जितना है उतना, यह ज्ञानधाराके परिचयसे समझमें आता है। वेदनपूर्वक अपना अस्तित्व ग्रहण होता है।

उपदेशछायाके २२० आंकमें उन्होंने 'अस्तित्व ग्रहण' कहा है। और स्वयं साक्षात् सिद्धपद स्वरूपी हैं, ऐसी प्रतीति आती है वयों कि यह भी प्रत्यक्ष है। इस परसे जाननेमें आया हुआ मूल पदार्थ भी अनन्त प्रत्यक्ष है क्योंकि उसमें तो अनन्त सामर्थ्य है तो ही उसमें से अनन्त प्रवाह निकलता है।

पेट्रोलके कुएमें से पेट्रोल या गैस निकलता है, यह सतत निकलता है। यह उसके Force (वेग) परसे उसके विशेषज्ञ हैं, वे अन्दरमें कितना माल भरा हुआ है; उसका अपनेको आंक बताते हैं - अन्दर गए बिना। एक हजार मीटर, दो हजार मीटर, तीन हजार मीटर नीचे; यहाँ पेट्रोलियम इतने करोड़ घनमीटर पड़ा हुआ है। वे जैसे निकाल सकते हैं, नीचे गए बिना। वैसे ही पदार्थ-निर्णयके कालमें सतत प्रवाहमान ऐसी जो ज्ञानधारा है और उसकी निराकुलता और इसका Force (वेग) रोकना चाहो तो रुक सके नहीं, उसका मुँह बंद नहीं होता है। यहाँ पेट्रोलियमके कुँए का मुँह बंद करना हो तो किया जा सकता है। परन्तु ज्ञान एक सेकन्ड भी बंध नहीं रह सकता है। ऐसा उसका जो Force (वेग) है; ताकत है - उन सभीका माप सेकण्डोंमें, पदार्थ-निर्णयके कालमें मुमुक्षुको पता लग जाता है और जब उसे खबर पड़ती है कि अनन्त सुखका सागर मेरे अन्दर ही हिलोड़ा ले रहा है, उछाल खा रहा है, अब वह बाहर निकलनेके लिए तड़प रहा है तब उसका जो पर्यायकी अंदरका उस सम्बन्धी का उत्साह है, वह पर्यायमें समाता नहीं है। इतना पुरुषार्थ, इतना स्वरूप महिमापूर्वक स्वरूपका रस - यह मुमुक्षु जीवको उत्पन्न होता है। अपने अनन्त गुण-निधानकी अनन्य रुचि प्रगट होती है और यह अनन्य रुचि, उसके पर्याय को अन्यरूपसे रहने देगी सत्स्वरूपको अभेद नमस्कार है। 'कृपालुदेव' लिखते हैं

'सत्स्वरूपको अभेद भावसे नमस्कार।' नमस्कार यानी नमन करना, नतमस्तक होना, ढलना, झुकना।

प्रश्न : पदार्थ निर्णयका विस्तार कहाँसे मिले ?

उत्तर : इसका (पदार्थ-निर्णयका) विशेषरूपसे अगर लिंखावटमें चाहिए तो 'निर्भ्रान्त दर्शनकी पगडण्डी;' इसके (निर्भ्रान्त दर्शनकी पगडण्डीके) तीसरे प्रकरणमें-स्वरूप-निश्चयके प्रकरणमें; इसका हूबहू बयान लिखा हुआ है। अभी तो बात कही; वह, वहाँ दर्शाई हुई है।

जिज्ञासा : ज्ञानकी प्रक्रियाको अधिक स्पष्टरूपसे समझाइये।

समाधान : इसमें ऐसा है कि जो ज्ञानविशेष - बाह्यअंग है; वह इसके पहलेकी दशामें - अनादिसे जो दशा वर्त रही है, वह अन्य पदार्थको जाननेके समय; अन्य पदार्थके प्रति आकर्षित होकर अवलम्बन लेकर जानती है, ऐसा एक ज्ञान विशेषमें विपर्यास वर्तने के कारण जीवको ज्ञेयलुब्धता उत्पन्न हो जाती है। समयसारकी १५वीं गाथामें अमृतचन्द्र आचार्यदेवने इसके लिए 'ज्ञेय-लुब्धता' शब्दका प्रयोग किया है। जो ज्ञेयको देखता है, वह ज्ञेयमें आसक्त होता है क्योंकि उसको ज्ञेयको प्रति खिंचाव है।

यह ज्ञान विशेषका अंग जब ज्ञान सामान्यमें वेदनका आविर्भाव करता है अर्थात् स्वयं अपने वेदनको ग्रहण करता है तब दिशा अन्तर्मुख होती है। जो दिशा बहिर्मुख होकर जाननेवाली थी, वही (अब) अन्तर्मुख होकर अपने वेदनको ग्रहण करती है। पर्याय एक ही है, दो नहीं हैं। जो अंग बाहर जाता था, वह अन्दर आता है। उसे स्वसन्मुखता कहते हैं, उसे अन्तर्मुखता भी कहते हैं। यहाँ ज्ञानकी दिशा बदलती है। और जब ज्ञानकी दिशा बदलती है तब साथ ही साथ वीर्यका उत्साह अन्दरके तरफ झुककर आता है।

अतः उस समय विकल्पवाली दशा होनेके बावजूद भी उसका आंशिक अभाव होता है; अर्थात् इसका अवलम्बन छूट जाता है।

इसके पहले आत्माका विचार करता है तब रागके अवलम्बनसे विचार करता है। ज्ञान-वेदनका अवलम्बन नहीं आया। ज्ञानवेदनरूप, ज्ञान लक्षणके आधारसे ज्ञान-स्वभाव पहचाना जाता है तब अनन्त सुख मेरेमें भरा है वह भी पहचानने में आता है। और इस जीवकी वृत्ति सुखके लिए अनादिसे जगतके एक-एक रजकणमें भटकती है और जगतके एकएक रजकणके पास अपने सुखकी भीख मांगती है। ऐसी जो सुखके लिए वृत्ति है, वह इतना साहस करती है कि चालीस हजार फूटकी ऊंचाईमें वायुवानमें (प्लेनमें) मनुष्य क्यों उड़ता (सफर करता) है ? खबर नहीं है (कि) यहाँसे नीचे गिरेगा तो एक भी हड्डी हाथमें नहीं आयेगी। सुखके लिए जाता है। यहाँ भी सुखके लिए मुसाफरी करनी है। और सुखके कारणसे जल्दी पहुँचना है।

जान का जोखम, जानकी बाजी लगानेवाला कौन ? सुख की अपेक्षित वृत्ति है।

जब बाहरमें सुख नहीं है तो भी जीव, इस वृत्तिके कारण साहस करने को तैयार होता है; तो जहाँ अनन्त सुख भरा है - ऐसा सागर, तलिया बिनाका सागर, तलिया बिनाका सुखका सागर दिखे तो यह वृत्ति कितनी जोर करे, इसकी गिनती कर लेना। इतना जोरसे उसका उछाला आता है कि अल्प कालमें सोभाग्यभाईने फटाकसे सम्यक्दर्शन ले लिया। कोई कोई ऐसे साधक होते हैं (जो) सुबहका शामको पूरा कर ले - (एक ही दिनमें पू. निहालचन्द्रजी सोगानी - जैसे) इतना जोर अन्दर से आता है, उसे पदार्थ-निर्णय कहते हैं।

‘वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी न्यूनताके कारण’, अंतरंगमें इतनी न्यूनताके कारण; ‘पदार्थ-निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है।’ अर्थात् पदार्थ-निर्णय से जो चित्तको शान्ति मिलती है; अनन्त शान्तिके पिण्डकी मुख्यता आती है और जो शान्ति होती है, वह शान्ति पदार्थनिर्णयके पहले कभी किसी जीवको होती नहीं है, भले ही मुमुक्षुता में आगे बढ़ा हुआ हो तो भी। इसलिए पदार्थ-निर्णय नहीं हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है और भूल होने पर मिथ्या समता आती है।

मिथ्या समता कब आती है ?

मैं पहलेसे तो आगे बढ़ा हूँ। ऐसा कभी भी परिणाम रहता है अथवा वर्तमान परिणाममें जो कुछ भी ठीक होता है, वह ठीक हुआ है; वह ठीक हुआ है - ऐसा लगा करे तो ये परिणाम अच्छे चलते हैं, आत्माके ही विचार आते हैं दूसरे विचार मुझे नहीं आते, अब यही चलता है। यहाँ अब इस परिणामको गुलांट खाकर स्वरूप पर आनेका है। अब परिणाम पर, परिणाममें रहनेका नहीं है। परिणाम आश्रित परिणाम जीव अनादिसे करता आया है और ‘वह पर्यावबुद्धि, मिथ्याबुद्धि परसमय है।’ - ऐसा प्रवचनसारकी ९३वीं गाथा कहती है।

यह पर्याय आश्रितपना स्वरूप-निश्चय होने पर स्वरूप-महिमामें, उस पर्यायमें डूब जाता है। स्वरूपमहिमामें इतना डूब जाता है कि उसे खुदको अपने आपको, अपना भान रहता नहीं। यह परिस्थिति परिणामकी होती है तब ही पर्यायकी मुख्यता टलती है और स्वभावकी मुख्यता आती है। और (जब) स्वभावकी मुख्यता आती है तभी परिणाम आगे बढ़ते हैं; तब तक परिणामका विकास उस दिशामें, उस भूमिकामें होना चाहिये, वह होता नहीं है। अतः कभी मिथ्यासमता आये तो

वह DANGER ZONEमें (खतरा) आया है ऐसा समझ लेना। वहाँ नुकसान कर लेता है।

जिज्ञासा : बौद्धिक स्तर पर समझमें आया हो, तो भी कल्पना है ?

समाधान : 'कल्पित पदार्थमें सत्की मान्यता होती है' यही बात 'कृपालुदेव' करना चाहते हैं।

जब तक स्वरूपका भावभासन नहीं आये तब तक बुद्धिकी पहुँचमें (आत्मा) कल्पित पदार्थ है, ऐसा समझने योग्य है और इस कल्पनाका चिंतन-मनन गाढ़ करने योग्य नहीं है (क्योंकि) उसमें कल्पित पदार्थकी मुख्यता हो गई।

बात दूसरी तरह है कि, यह अनुभवका मार्ग है और वेदन एवं अनुभवसे आगे बढ़नेका है, बुद्धि लगाकर नहीं। पहले बुद्धिसे जो समझनेका स्तर है, वह सिर्फ Outline (बाह्य रेखा) है - ऐसा समझनेका है। इससे ज्यादा उसका कोई महत्त्व नहीं है। फिर जो Outline मिली है उसे एक ओर रखकर, पहले से ही वेदनके मार्गमें आगे बढ़नेका है।

जो वेदना है, स्वरूप अप्राप्तिकी जो तड़पन है, वहाँसे (वेदनासे) मार्गकी शुरुआत होती है। इस वेदनमें आगे बढ़नेका है, बुद्धिमें नहीं। बुद्धिमें Outline (बाह्य रेखा) मिल गई परन्तु Under Line (अन्तरंग रेखा) मिली नहीं, यह ध्यानमें रखनेका है। यह वेदनका विषय है अंडरलाईन है वह मूल ज्ञानधारा है, अतः उसे आगे ले जाना है और बुद्धिको पीछे रखनेका है। अगर वहाँ भी इस स्तरमें भी, वेदनाके विषयमें प्रयास, योग्यताकी न्यूनताके कारण कमहो और अगर बुद्धि ज्यादा काम करने लगे तो यह बुद्धि चलाना उसे भारी पड़ जाए। वहाँ बुद्धि बिल्कुल लगाना नहीं, क्योंकि कल्पित पदार्थके प्रति सत्की

मान्यता होती है। वेदनासे जो मान्यता आनी चाहिए - वह बात ही अलग है और विचारसे जो मान्यता आती है - वह बात एकदम ही अलग है।

जो पहले समझा (है कि) आत्मा अनन्त गुणका एक द्रव्य सामान्य है। उसमें भाव स्वरूप है। त्रिकाली शाश्वत ध्रुव तत्त्व है। ऐसा जो स्वयं समझा है (कि) ऐसा मेरा ज्ञायक तत्त्व है, वह किसके आधारसे समझा है ? मनके आधारसे (समझा है) परन्तु पदार्थ (आत्मा) मनातीत विषय है। मनातीत विषय होनेके बावजूद भी उसे मनकी मर्यादामें समाकर - उसे Frame (सीमित) कर देना। यह Frame में (सीमित) समा जाए, ऐसा नहीं है। (ऐसे) इस कल्पित पदार्थके प्रति सत्की मान्यता होती है और यह Danger Zone (खतरा) है, इसलिए है कि अगर इसमें दृढ़ता हो जाए और वेदनका विषय हाथमें नहीं आये तो वहाँ दर्शनमोह तीव्र होता है गृहीत-मिथ्यात्वमें जीव आ जाता है। क्योंकि प्रयोजनभूत विषयमें इसने कल्पना की है (कि) मेरा आत्मा ऐसा है। स्वयंका आत्मा प्रयोजनभूत विषय है और प्रयोजनभूत विषयमें जब कल्पना हो तो नया ग्रहण किया, अतः इसे गृहीतमिथ्यात्व कहनेमें आता है। तब नया मिथ्यात्व सूक्ष्म है (परन्तु) अन्य सभी गत - सांख्यादि, इसीमें से उत्पन्न हुए हैं। (सूक्ष्म) गृहीतमिथ्यात्व बादमें विकसित होता है, Develop होता है और खुद अगर बुद्धिवाला हो और पुण्यवंत हो तो लोग अनुसरण करने लगते हैं। आत्मा ऐसा है और आत्मा वैसा है, और कल्पनामें जैसा आया हो वैसे ही प्रतिपादित करता है और नया सम्प्रदाय उत्पन्न हो जाता है। ऐसे जगतके सभी सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हुई। मूलमें ऐसे बना है।

‘कल्पित पदार्थमें ‘सत्’ की मान्यता होती है; जिससे कालक्रमसे

अपूर्व पदार्थमें परमप्रेम नहीं आता,' यह लक्षण आना चाहिये। जब स्वरूपका भावभासन हो, पदार्थनिर्णय हो, तब उसे परम महिमा आती है, परमप्रेम आता है।

जिसे गुणका प्रेम है, उसे अनंत गुणकी खानका पता लगे (तब) उसे कितना प्रेम आयेगा ? उसे आत्माका-आत्माके प्रतिका प्रेम है। वह परमप्रेम पदार्थका निर्णय नहीं हो तो इधर-उधर चढ़ जाये, यहाँ भी मार्गदर्शनकी जरूरत पड़ती है। **'परम प्रेम नहीं आता और यही परम योग्यताकी हानि है।'** परम योग्यता चरम सीमाकी मुमुक्षुकी योग्यता; जो आखरी हद की है, वह प्राप्त हो तो उसे तुरंत ही सम्यक्दर्शन होता है। अल्प समयमें होता है। वरना वह योग्यता हानिको प्राप्त हुई है या क्षतिको प्राप्त हुई है।

इसमें पदार्थनिर्णय तक इस विषयको 'कृपालुदेव'ने प्रतिपादित किया हुआ है और अभी भी विशेष बात करना चाहते हैं, वह अब आगेके पेराग्राफमें करेंगे। **'ये तीनों कारण'** जो मार्गप्राप्तिमें बाधकरूप हैं, रोकनेवाले हैं, अवरोध करनेवाले हैं। **'ये तीनों कारण प्रायः हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं।'** देखो! यहाँ मुमुक्षुओंकी पीठ नहीं थपथपाई है, आप लोग बहुत समझदार हैं, आपलोग बहुत योग्यतावाले, (तथा) आपलोग बहुत पात्र हैं। आपलोग बहुत आगे बढ़े हुए हैं ऐसा नहीं कहा। हितेच्छु थे अर्थात् हितकी दृष्टिसे स्पष्ट बात करते हैं, नहीं तो 'कृपालुदेव'के परिचयमें आये हुए मुमुक्षुकी योग्यता, आजकल के मुमुक्षुओसे बहुत अच्छी थी ऐसा अवश्य कह सकते हैं, ऐसी बात है। अभीके समयमें मुमुक्षुता नाममात्र होती है। किसी किसी जीवमें सुपात्रता आती है। परन्तु 'कृपालुदेव'के समीप जो जीव आये थे, अंगत परिचयमें आये थे, वे बहुत योग्यतावाले थे, पात्रतावाले थे। तो भी लिखते हैं कि **'ये तीनों कारण प्रायः'**

हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। मात्र दूसरे कारणकी कुछ न्यूनता किसी किसीमें देखी है।' कैसा रनेटमेन्ट (कथन) देते हैं। कोई-कोई जीव ऐसे हैं जिन्हे सत्पुरुषके प्रति अत्यंत विनय होता है। ये जो कारण, उनकी न्यूनता अर्थात् कभी, अवरोधक कारणकी कमी अर्थात् अच्छा कारण है, यह हमने देखा है। अतः परम विनयकी न्यूनता है, इसमें न्यूनता है अर्थात् अच्छा ऐसा विनय है। कितने ही मुमुक्षुओंमें अच्छा, ऐसा विनय देखनेमें आया है। 'और यदि उनमें सर्व प्रकारसे (परम दीनताकी कमीको) न्यूनता होनेका प्रयत्न हो,' अर्थात् परम दीनताकी न्यूनता है, वह सर्व प्रकारसे मिट जाये और (सत्पुरुषकी) पहचान होकर परमेश्वरबुद्धि आ जाये - ऐसा प्रयत्न हो, ऐसा पुरुषार्थ हो, सत्पुरुषको पहचाननेका पुरुषार्थ हो, 'तो योग्य हो ऐसा जानते हैं' अर्थात् आगे बढ़नेकी योग्यता आती है क्योंकि यह पहला समकित है।

जिसे पहला समकित आता है उसे दूसरा समकित प्राप्त होनेकी योग्यता आती है। 'परम दीनता इन तीनोंमें बलवान साधन है।' अब बात ऐसे ली। देखो अब कहाँ बातको ले जाते हैं। इन तीनोंमें बलवान साधन क्या ? परम विनय आना, सत्पुरुषकी पहचान - यह मुख्य साधन हैं। बादमें दूसरा अपने आप होगा। ऐसा कहते हैं। 'परम दीनता इन तीनोंमें बलवान साधन है; और इन तीनोंका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमार्पण है।' ऊपर STATEMENT (कथन) दिया था कि 'इन सब कारणोंको दूर करनेका बीज अब आगे कहेंगे' वह अब यहाँ 'बीज' शब्दका प्रयोग किया है। तीनों का बीज अर्थात् यह तीन अवरोधक कारण हैं और इनको मिटाने की दवाई; बीज अर्थात् दवाई। महात्माके प्रति अर्थात् सत्पुरुषके प्रति परम प्रेम भावसे अर्पणताका होना, वह है 'प्रेमार्पण' शब्द उनकी भाषामें शैलीमें देखने

मिलता है अन्यत्र कहीं देखने नहीं मिलता है।

परम अर्थात् पूरा-पूरा। जिसमें कोई गिनतीका विषय नहीं होगा। गिनतीका विषय जहाँ मेरा-तेरापना होता है, वहाँ होता है। जहाँ मेरा-तेरापन मिटा और ऐक्य-भाव हुआ वहाँ गिनतीका विषय समाप्त हो जाता है।

परम प्रेमापर्णभावसे जब सत्पुरुषके प्रति परिणामका प्रवाह उत्पन्न होता है, तब इन तीन कारणोंके मिटनेका बीज इस परम प्रेमापर्णभावमें आ जाता है। जब परम दीनता आती है परम दीनताकी न्यूनता जब जाती है। जब पूरी-पूरी यह न्यूनता समाप्त हो जाती है तब उसे परम प्रेमापर्ण उत्पन्न होता है। परम प्रेमापर्ण उत्पन्न होता है तब समझना; परमेश्वरबुद्धिसे परम प्रेमापर्ण आये तो समझना कि अब परम विनयकी कमी नहीं है।

जिज्ञासा : परम प्रेमापर्णमें (क्या) समकितका बीज है ?

समाधान : इसका बीज इसमें आया हुआ है। अगर यह वस्तु आ जाये तो पहलेकी क्षतियाँ तो सहजमात्रमें जाती हैं।

इसमें क्या है कि, एक तरफ ज्यादा झुकावसे बाकी सभी तरफसे (झुकाव) हट जाता है।

जिज्ञासा : 'इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा' इसमें क्या कहना चाहते हैं ?

समाधान : इसमें क्या है कि निःशंकरूपसे आत्मा सत् परमानन्दरूप है, ऐसा अभिप्राय नहीं आया। इसलिए सुखकी इच्छा रहा करती है। अब यहाँ भावभासन हुआ नहीं कि (आत्मा) सत् परमानन्दरूप है, तो अब क्या करना ? अकुलाहट होती है। तो इसका सरल रस्ता है, सत्पुरुषको पहचानकर अगर परम प्रेमापर्ण हो जाए यानी यह असमाधान गया। पहले तो INDICATION (संकेत)

किया है। ऐसी सुखेच्छा, मानसिक शांति, उसमें से बच जाये - वहां कहीं फसता नहीं - ऐसा कहना है। निर्मलता बादमें आयेगी परन्तु उसकी बीज यहाँ है। अतः निर्मलता वहाँसे आयेगी। निर्मल ऐसा आत्म-पदार्थ, यह निर्मल ज्ञानमें प्रतिभासित होता है और यह निर्मल ज्ञान तब होता है (जब) मोहरहित, ऐसे जो सत्पुरुष (है) उनके प्रति (जब) उपकार बुद्धिसे परम प्रेमापर्ण आये तब (होता है)। जब परम प्रेमापर्ण आता है तब निर्मलता आती जाती है। वास्तवमें तो मुमुक्षुके परिणामसे 'कृपालुदेव'की यह वचनरचना है।

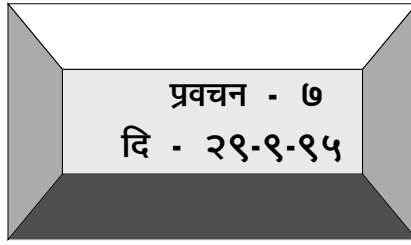
मुमुक्षु जीवको परम प्रेमवाला अर्पणतावाला परिणाम हुआ। वास्तवमें तो यह निर्मलता लेता है। प्रेम देता है, उसके सामने निर्मलता लेता है। माल लेने जाता है। इस निर्मलताके कारणसे उसे अपने स्वरूपका भावभासन होता है - ऐसा है।

पूर्णता का लक्ष इसके पहले आ जाता है। मोहासक्तिसे अकुलाकर एक मोक्षके लिए ही यत्न करना, वहां यह लक्ष आता है। यहाँ तो बादमें स्वरूपका लक्ष होता है और दोनों लक्षका Co-Ordination (समन्वय) उसे मोक्षमार्ग से केवलज्ञान तक ले जाता है - तब यथार्थ लक्ष नहीं है। पूर्णताके लक्षके बिना स्वरूपका लक्ष हो गया है ऐसा कोई माने तो वह भी यथार्थ नहीं है। पदार्थ लक्ष तो दोनों का सुमेल है। तभी परिणाममें सन्तुलन रहे नहीं तो सन्तुलन रहता नहीं। या तो पर्यायाश्रितरूपसे व्यवहाराभास होता है अथवा निश्चयकी कल्पनामें निश्चयाभास होता है, यह फिर ज्यादा खराब है।

'अधिक क्या कहना ? अनन्त कालमें यही मार्ग है।' अब इसके अलावा अन्य किसी प्रकारसे मुमुक्षु जीवको कुछ भी विचारने योग्य नहीं है। उसे लाईनपे चढना हो तो इस २५४ पत्रांकमें जो जो

बात की हैं, वह 'कृपालुदेव'की आज्ञा है। इस आज्ञाको मस्तक पर चढ़ा लेना, तो तिर जायेगा। नहीं तो अनन्त कालमें दूसरा मार्ग नहीं है, ऐसा समझ लेना। विशेषरूपसे कल लेंगे।





मुमुक्षुताके परिणामोंमें उन्नतिक्रम किस प्रकारसे है कि जो परिणाम मोक्षमार्गके समीप ले जाते हैं। यह इस पत्रका विषय है। इसमें अन्तमें मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें अवरोध पहुँचानेवाले मुख्यरूपसे जो तीन कारण हैं, उन्हें 'कृपालुदेव'ने कहा है और अन्तमें कहा कि, '**परम दीनता, इन तीनोंमें बलवान साधन है**' तथा सुगम कारण है। दर्शनमोह अनेक प्रकारसे घटता है। इसमें अलग अलग जो प्रकार हैं, उसमें भूल होनेकी सम्भावना अधिक है। परन्तु अगर सत्पुरुषका योग हो और उनके प्रति परम विनय आवे तो सुगमतासे, अच्छी तरह दर्शनमोहका अनुभाग टूटता है। यह सुगममें सुगम और उत्तममें उत्तम उपाय है। इसलिए यह बलवान साधन है। और ऊपरके तीनों कारणोंके (मिटने का) बीज, तीनों कारणों तीनों दोषों के मिटनेका बीज महात्माके प्रति परम प्रेमापर्ण होना वह है। परम प्रेमसे परम उपकारबुद्धिसे अर्पणता आये, वह इन सभी कारणोंको टालनेका बीज है।

'**अधिक क्या कहे ? अनंत कालमें यही मार्ग है।**' बहुत क्या कहें। शायद इस विषयमें दूसरा मार्गकी खोज करना चाहेगा तो दूसरा मार्ग नहीं है। यह मार्ग किसीको अनुकूल नहीं आये, नहीं लगे। 'हमें यह बात बराबर नहीं लगती है। हम दूसरी रीतिसे

कुछ करना चाहते हैं,' तब उसके सामने यह बात 'कृपालुदेव' कहते हैं। 'अनंतकालमें यही मार्ग है' दूसरा कोई मार्ग नहीं है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। 'पहले और तीसरे कारणके दूर करनेके लिये दूसरा कारण की हानि करना।' पहला यानी इस लोककी अल्प भी सुखेच्छाका दोष और (दूसरा) पदार्थका अनिर्णय का दोष है। उन दोनों दोष मिटने के लिये, दूसरे कारणकी हानि करना यानी कि परम विनयमें वर्तना। परम विनयमें न्यूनता हो तो वह न्यूनता को टालना।

कितने ही जीव जानकारके या अनजानमें सत्पुरुषका विरोध करते हैं। वे तो दयाके पात्र हैं; करुणाके पात्र हैं। उसकी चर्चा करना बेकार है। परन्तु जो लोग सत्पुरुषका स्वीकार करते हैं, मानते हैं, फिर भी परम विनयमें नहीं आते हैं (तो) यह एक ऐसा दोष है कि जिसको लेकर योग्यता रूक जाती है। मार्ग प्राप्तिका बाधक कारण बनता है। उसे 'कृपालुदेव'ने एक पत्रमें 'वंचनाबुद्धि' कही है।

बहुत करके ६६९ वां पत्र है। पत्रा ४९०। 'आत्मार्थके सिवाय जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मानी है, वह सर्व शास्त्रीय अभिनिवेश है।' शास्त्रका दो प्रकारसे वांचन होता है। एक आत्मार्थसे वांचन होता है और एक दूसरा क्षयोपशम-जानपना बढ़ानेके लोभसे शास्त्रअध्ययन होता है। आत्मार्थको छोड़कर, आत्मकल्याणका लक्ष चूककर, अगर शास्त्रका वांचन, श्रवण, अध्ययन होता हो तो ऐसे करते हुए कृतार्थता मानी है, यानी कि मैं कुछ करता हूँ, ऐसे (कृतार्थता) मानी है। यानी कि, मैं मेरे आत्मकल्याणके लिये कुछ कर चूका हूँ ऐसी कृतार्थता मानी हो तो (वह) 'शास्त्रीय अभिनिवेश' है। 'स्वच्छंदता दूर नहीं हुई, और सत्समागमका योग

प्राप्त हुआ है, उस योगमें भी स्वच्छंदताके निर्वाहके लिये...’ ऐसा योग होने पर भी जैसे यहाँ कहा कि अनंतकालमें यही मार्ग है, दूसरी रीतिसे करने जाय तो स्वच्छंदका निर्वाह होता है। ‘शास्त्रके किसी एक वचनको बहुवचन जैसा बताकर’ उस वचन पर वजन रखकर - ‘मुख्य साधन जो सत्समागम’ - मुख्य साधन सत्समागम है - ‘उसके समान शास्त्रको कहता है अथवा उससे विशेष भार शास्त्र पर देता है’ - उसे बराबर गिनता है। सत्समागम समान गिनता है अथवा सत्संगसे अधिक गिनता है (वह) इसप्रकार से -

सत्पुरुष चौथे गुणस्थानमें बिराजमान हैं, और हमारे पास जो महान शास्त्रों हैं वे छठे-सातवें गुणस्थानमें वर्तते आचार्यों के लिखे हुए हैं। अतः ऊपर ऊपरके महात्माओंके वचनमृत हमारे पास हैं। हमें सत्समागमसे ज्यादा सत्शास्त्र पढना ज्यादा ठीक लगता है क्योंकि ऊपरके गुणस्थानकवर्ती आचार्योंके वे महान शास्त्रों हैं।

तो (अब) ‘कृपालुदेव’ कहते हैं ‘मुख्य साधन जो सत्समागम है, उसके समान शास्त्रको कहता है अथवा उससे विशेष भार शास्त्र पर देता है; उस जीवको भी ‘अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश’ है।’ उस जीवको भी, अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है। अप्रशस्त अर्थात् शुभका प्रकार नहीं है, अशुभका प्रकार है। शास्त्र पर वजन देता है। इस विषयको ‘कृपालुदेव’ने बहुत अन्दरकी गहराईसे निरूपित किया है। इस प्रकारके परिणामवाले जीवकी नस पकड़ी है, ऐसा कहें तो चलेगा। और इस नस को पकडकर, मापकर कहा है कि ‘अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है।’

ऐसा जीव कब करता है ? सत्पुरुष विराजमान हो, उन्हें गौणकरके शास्त्र वांचन करने बैठ जाये, ऐसा कब करता है ? जब उसे अपना अहंभाव बढ गया होता है तब करता है। यह

अप्रशस्त परिणाम है। अशुभ परिणाम है।

‘आत्माको समझनेके लिए शास्त्र उपकारी है, और वह भी स्वच्छन्दरहित पुरुष को।’ जिनका स्वच्छन्द मिटा नहीं है; वह अगर सीधा शास्त्र पढने बैठे, तो बहुभाग अपना नुकसान करता है। **‘इतना ध्यान रखकर सत्शास्त्रका विचार किया जाये तो वह ‘शास्त्रीय अभिनिवेश’ गिनने योग्य नहीं है।’**

इस प्रकारको (छोडकर अगर) कोई दूसरी तरहसे कार्य करना चाहे तो नहीं हो सकता है। इस बातका उल्लेख उन्होंने (‘कृपालुदेवने) किया है; पत्रांक ५२६, पृष्ठ संख्या ४२२ (में)। इसमें नीचेसे आखरी पेरोग्राफ है। **‘जीवको उन साधनोंकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके हेतुरूप ही है।’** क्या साधन कहा है ? सत्देव, सत्गुरु और सत्शास्त्रादि जो साधन कहे हैं; उन साधनकी आराधना जीवको निजस्वरूपके प्राप्त करनेके हेतुरूप ही है। **‘तथापि जीव यदि वहाँ भी वंचनाबुद्धि से प्रवृत्ति करे तो कभी कल्याण नहीं हो सकता। वंचनाबुद्धि अर्थात् सत्संग, सद्गुरु आदिमें सच्चे आत्मभावसे जो माहात्म्यबुद्धि होना योग्य है, वह माहात्म्यबुद्धि नहीं; उसका अभाव।’**

जो परम विनय आना चाहिए उसके बदले कम विनय होता और जीवको भ्रम हो। अथवा वंचनाबुद्धि होती है, ठगनेकी बुद्धि होती है, स्वयं अपनेसे ठगता रहता है। वह यह प्रकारसे (कि) मैं कहाँ विरोध करता हूँ ? मैं तो विनय करता हूँ ना ? मेरा विनय कदापि दूसरों के बदले कम हो सकता है, परन्तु विनय तो करता हूँ ना ? तो (वहाँ) कहते है **‘सच्चे आत्मभावसे जो परम विनय आना चाहिए, ऐसे परम माहात्म्यका अभाव अर्थात् माहात्म्यबुद्धिका नहीं होना। ‘अपने आत्मामें अज्ञानता ही रहती चली आती है, इसलिए उसकी अल्पज्ञता, लघुता विचारकर अमाहात्म्यबुद्धि करनी चाहिए’**

सो नहीं करना। अपनी दीनता नहीं लगे और वह सत्संग, सत्पुरुष के प्रति आराधना नहीं यह भी वंचनाबुद्धि है। 'वह सत्संग, सत्पुरुष आदिके योगमें अपनी अल्पज्ञता, लघुताको मान्य नहीं करे तो प्रत्यक्षरूपसे जीव परिभ्रमणके भयको प्राप्त नहीं होता, यही विचार करना योग्य है। अगर परम विनय न हो और विनय की न्यूनता हो तो उसे परिभ्रमणका भय लगा नहीं और खुद अपने से ठीगाता है, ऐसा समझने योग्य है। 'जीवको यदि प्रथम यह लक्ष अधिक हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहजतासे सिद्ध होना सम्भव है।'

यह लक्ष न हो - परम विनयका तो उसे शास्त्रार्थ या आत्मार्थताकी प्राप्ति नहीं होगी। सिद्धि अर्थात् प्राप्ति। जिज्ञासा : स्वयं अपने से ठगाया जाता है, माने क्या ? (समाधान) मैं कोई अविनय नहीं करता हूँ इसलिए मेरी लाइन बराबर है। परन्तु परम विनयकी जो न्यूनता है, वह मार्गप्राप्ति को रोकनेका कारण है। यह बात समझमें नहीं आई थी। मैं विनय करता हूँ, करता हूँ; इसमें संतोष धारण करता है (और) इसलिए परम विनया तक पहुँचता नहीं। वहाँ वह ठीगाया जाता है। परमेश्वरबुद्धिसे जितना माहात्म्य आना चाहिए उतना माहात्म्य नहीं आये तो जीव स्वयं अपनेसे ठीगाया जाता है; ऐसा बनता है।

परमेश्वरबुद्धि नहीं आई इसलिए खुदका लघुत्वपना भी नहीं आया। यह दोनों साथ ही है। यहाँ परम माहात्म्य आये तो अपना परम लघुत्व आये बिना रहता नहीं है। इसलिए, परम विनय तक पहुँचता नहीं। वहाँ वह ठीगाया जाता है। परमेश्वरबुद्धिसे जितना माहात्म्य आना चाहिए उतना माहात्म्य नहीं आये तो जीव स्वयं अपनेसे ठीगाया जाता है; ऐसा बनता है।

परमेश्वरबुद्धि नहीं आई इसलिए खुदका लघुत्वपना भी नहीं आया। यह दोनों साथ ही है। यहाँ परम माहात्म्य आये तो अपना परम लघुत्व आये बिना रहता नहीं है। इसलिए 'पहले और तीसरे कारणको दूर करने के लिए दूसरे कारणकी हानि करना।' अतः परम विनय की न्यूनता हो तो उसे टाल देना, ऐसा कहा है 'और महात्माके योगसे उसके अलौकिक स्वरूपको पहचानना।' उनके लौकिक आचरणको गौण करके उनके बाह्याचरणको गौण करके उनके अन्दरके अलौकिक स्वरूपको पहचानना। यहाँ किसीको प्रश्न हो कि पहचानना तो है परन्तु किस तरहसे पहचानना ? यह प्रश्न यहाँ सम्भवित है। 'कृपालुदेव'ने सब खुलासा कर ही रखा है। बातको अधूरा नहीं छोड़ा है। तुरन्त ही लिखते हैं, कैसे पहचानना ?

'पहचानने की परम तीव्रता रखना, तो पहचाना जायेगा।' पहचाना जरूर जायेगा, (परन्तु) कब ? पहचाननेकी तीव्रता आयेगी, तब। जब तक पहचाननेकी तीव्रता न हो, तब तक जीव सत्संगके योगमें भी ओधे-ओधे जायेगा। खुदको पहचाननेकी तीव्रता नहीं हो, तब तक ज्ञानमें उस प्रकार की पहचान करनेका अवकाश प्राप्त नहीं होता, खाली जगह नहीं होती। (फिर) कैसे पहचानेगा ? इसलिए लिखा, पहचाननेकी परम तीव्रता रखे तो पहचान होगी। 'मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।'

ऐसे जो पहचाननेकी तीव्रतावाले मुमुक्षु होते हैं, उनके ज्ञान-नेत्र इस चर्म-चक्षुकी बात नहीं है। चर्म-चक्षुसे तो बाह्य परिस्थिति दिखती है। उनके ज्ञान-नेत्र समझनरूपी नेत्र महात्माको अर्थात् सत्पुरुषको पहचान लेते हैं। सत्पुरुषको पहचानने के लिये उत्तम प्रकार की पात्रता अपेक्षित है। ऐसा (ही) जीव पहचान सकता है। इसके अलावा दूसरे जीवोंको भ्रान्ति होना संभव है, ज्ञानी ही पहचान

सके; ऐसा नहीं है। मात्र ज्ञानी हो ज्ञानीको पहचान सकता है और मुमुक्षु नहीं पहचान सकता है, ऐसा सिद्धान्त नहीं है। ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है और यह बात 'कृपालुदेवके इन वचनोसे स्पष्ट होती है (कि) 'मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं।'

'महात्मां जिस दृढ निश्चय होता है' अर्थात् पहचानकर जिसको दृढ निश्चय होता है अतः सारी बातको (अब यह) शुरुआत के क्रममें ले लेता है 'महात्मां जिसे दृढ निश्चय होता है, उसे मोहाशक्ति दूर होकर पदार्थका निर्णय होता है।' वहाँ तक पहुँचता है - पहलेसे अन्त तक।

सर्वप्रथम मोहाशक्ति घटती है; दृढ मुमुक्षुता अर्थात् मोक्षका लक्ष बंधता है, ध्येय बंधता है; अपने दोषके अवलोकन की ओर चित्त ढलता है; इस लोकमें उसे कोई भी पदार्थ सत्पुरुषसे अधिक भासित नहीं होता है; सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि आने पर पदार्थनिर्णय तक वह पहुँचता है। (और) जब पदार्थका निर्णय होता है, तब आकुलता मिटती है (जिससे) तब सर्वांग समाधान होता है। आत्मस्वरूप है, वह सर्वांग समाधान स्वरूप है।

ज्ञानीपुरुषके योगसे तो यहाँ तक पहुँचा। पदार्थ-निर्णय तक पहुँच गया, तब स्वरूपका भाव-भासन आ गया। ज्ञानीपुरुषके योगके बिना तो बीजज्ञान आता नहीं, इसलिए इसमें जरूरत है कि नहीं - यह प्रश्न तो रहता नहीं है। परन्तु इस प्रकारसे बीजज्ञान तक जो पहुँचता है उसे फिर कहीं असमाधान रहता नहीं है, यह बात कही है। 'व्याकुलता मिटती है, उससे निःशंकता आती है।' अपना स्वरूप शाश्वत, अव्याबाध अनंत सुखका धाम है; उसकी निःशंकता आती है। सर्वोत्कृष्ट सुखका भण्डार स्वयं है; यह निःशंकरूपसे स्वयंको भासित होता है। उससे जो निःशंकता आती है 'जिससे जीव सर्व

प्रकारके दुःखोंसे निर्भय हो जाता है। फिर किसी भी प्रकारके दुःखका भय उसे सताता नहीं है। सबसे बड़ा भय तो अनित्यताका है। कोई भी मनुष्य सांसारिक दृष्टिसे भले ही कितना साधन-सम्पन्न हो तो भी यह सभी अनित्य है, ऐसा उसे लगे बिना रहता नहीं है। रोज़ जानने मिलता है (कि) आज यह मरा, कल दूसरा मरा, तीसरा मरा। मैं भी जानेवाला हूँ। ये साधन मेरे पास कायम रहनेवाले नहीं हैं। कायम तो मेरे पास रहनेवाला नहीं है परन्तु एक ही झटकेमें छूट जानेवाला है। टूटक-टूटक रूपमें छूटनेवाला नहीं है और इसकी वेदना जीवको इतनी आती है कि बहुभाग मनुष्य बेशुद्ध अवस्थामें देहत्याग करते हैं, इतनी अधिक तीव्र व्याकुलता और दुःखदायक स्थिति खड़ी होती है। बेशुद्ध अवस्थामें जीव भान गँवा बैठता है इसका कारण यह देहात्मबुद्धि है। इस अनित्यताका भय स्वयं जिवीत हो तब भी उसके कलेजे, चूहा बनकर उसके कलेजेको कतरता रहता है। हर एक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवको ऐसी एक परिस्थिति अंदरमें चालू और चालू होती ही है क्योंकि उसे समाधान आनेवाला नहीं है। ज्ञानीको तो हर हालतमें और भेदज्ञानका प्रयोग करनेवाले मुमुक्षुको (भी) हर हालतमें सभी पदार्थ मेरेसे भिन्न है अभी भिन्न है। इस शरीरकी जो पर्याय ग्रहण हुई है, इस पर्याय पर भी जिसे मोह नहीं। कभी भी आयुष्य पूर्ण हो जाए, मुझे क्या फरक पड़ता है ? शाश्वत ऐसा मैं मेरे अव्याबाधत्वको कभी भी छोड़ता नहीं हूँ। मेरे अव्याबाधत्व को कभी भी बाधा पहुँचती नहीं है। ऐसी जो अपनी निःशंकता, इस निःशंकतासे जीव सर्व प्रकारके दुःखोंसे निर्भय होता है, भले ही असंख्य प्रकार हो। असमाधानके जो असंख्य प्रकार हैं, वे सभी दुःखके प्रकार हैं क्योंकि असमाधानसे दुःख उत्पन्न होता है। **जिससे जीव सर्व प्रकारके दुःखोंसे निर्भय हो जाता है**

और उसीसे निःसंगता उत्पन्न होती है और ऐसा योग्य ही है। और जिससे निःसंगता अर्थात् असंगदशा उत्पन्न करनेका सामर्थ्य, ऐसी निःशंकता आनेके बाद ही बन सकता है नहीं तो भयसे आकुलित परिणाम होते हैं (और) वहाँ राग-द्वेषके परिणाम खींचे बिना रहते नहीं। और यह जो खींचते है, वह जीवको असंगदशामें असंग स्वरूप में आने देता नहीं है। जीवके परिणामको खींचा करती है।

‘मात्र आप सभी मुमुक्षुओंके लिए यह अति संक्षिप्त लिखा है।’ खंभातके मुमुक्षु भाईयों को लिखा हुआ यह पत्र है। परन्तु इसका स्वाध्याय करनेवाले जीवको ‘यह पत्र मुझे लिखा है’ ऐसा लगना चाहिए। ऐसा अंदरमें भासित होना चाहिए, तो लाईनमें चढ़ जाए ऐसी बात है।

अनन्तकालमें इस जीवने धर्मके साधन अनन्त किए हैं **‘यम नियम, संयम आप कियो; पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो ... वह साधन बार अनन्त कियो।’** यह सभी साधन अनन्त बार किए हैं। परन्तु ‘कृपालुदेव’ने यहां ज्ञानीके मार्गकी (जो) सारी लाईन व्यवस्थित करके बताई है, उस लाईनमें चढा नहीं। यह हाथमें नहीं आई। यह लाईन हाथमें आये बिना दूसरे सभी साधन किए हैं।

यहाँ एक विशेष बात पर ध्यान खींचने योग्य है (कि) मुमुक्षु जीव है, उसकी शक्ति बहुत मर्यादित है। ज्ञानदशामें जितनी शक्ति होती है उतनी शक्ति मुमुक्षुदशामें अन्दरसे आत्माकी प्रगट हुई नहीं है। जब मर्यादित शक्ति लेकर जीव धर्मके क्षेत्रमें प्रवृत्ति करता है, तब अपनी मर्यादित शक्तिका भान रखकर यह शक्ति जितनी भी थोड़ी बहुत है; इसे ज्ञानीके मार्ग में लगानेके लिए ही रोके और ऐसे वैसे साधनमें नहीं रोके; इतना विवेक करने योग्य है। नहीं तो क्या होगा ? जीव अनेक साधनोमें अपनी शक्तिको रोकता है,

यह शक्ति उसके पास थोड़ी है, वह बंट जाती है। और फिर जहाँ मुख्यरूपसे (जो) करनेका है तब उसके पास शक्ति रहती नहीं। जैसे किसी मनुष्यको इस जमानेमें ५००-७०० रुपयेकी तनखा हो, (और) वह ४०० रुपयेकी चप्पल-जूता खरीदकर पहने तो १००-२०० रुपयेमें एक महीनेकी रोटी किस तरहसे खाये ? तनखा तो उसे महीने-महीने मिलनेवाला है। अतः ५०० रुपयेकी तनखावालेको ४०० रुपयेका जूता पहनना पोसायेगा नहीं और पहनने जाये तो तवा कोरा रह जाये। ऐसे कम आय वालेको खर्च करनेमें विवेक रखना चाहिए, वैसे ही कम शक्तिवान मुमुक्षुको अपनी शक्ति खर्च करनेमें विवेक रखना उचित है। वह दूसरे-दूसरे साधनोंमें अपनी शक्ति लगाता है। अपने आप क्षयोपशम बढ़ानेके लिए अपनी शक्ति लगाए, अपनेको ठीक लगे ऐसा व्रत - नियम आदि ग्रहण करनेमें लग जाये और मूल वस्तु, मुमुक्षुकी भूमिकाकी सारी लाईन हाथमें से छूट जाये। ऐसा अनन्त बार बना है 'यह साधन बार अनन्त कियो तदपि कुछ हाथ हजी न पयो' कुछ हाथमें नहीं आये। जितनी खुदकी शक्ति है उस शक्तिको यथार्थ मार्गमें लगाना; इतना विवेक करने योग्य है। थोड़ी देर हो उसका इतना दिक्कत नहीं है परन्तु जो कुछ हो उतना यथार्थ हो, इतना लक्षमें लेना योग्य है। अतः कहते हैं, 'मात्र आप सभी मुमुक्षुओं के लिए यह अति संक्षिप्त लिखा है।' लिखा है; संक्षिप्तमें क्योंकि (यह) पत्र है, पुस्तक नहीं। पुस्तक (ग्रन्थ) लिखने बैठे हों तो ज्ञानी अनेक भेदसे बात कहते हैं दृष्टांत देकर बात कहते हैं। यहां तो पत्र है, इसलिए संक्षेपमें लिखा है। 'इसका परस्पर विचार करके विस्तार करना और इसे समझना ऐसा हम कहते हैं।' यह 'कृपालुदेव'की स्पष्ट आज्ञा है, इसका विस्तार करना। कितने ही (लोग) ऐसे विचारते हैं कि

‘कृपालुदेवके पत्र पढ लेना, विस्तार नहीं करना; यह योग्य नहीं है। योग्य नहीं तो आज्ञा है कि परस्पर मिलकर विचार करना, विस्तारसे समझो ‘ऐसा हम कहते हैं।’ ‘हमने इसमें गूढ शास्त्रार्थका प्रतिपादन किया है।’ इस पत्रमें भले ही बात संक्षेप में लिखी है; परन्तु शास्त्रका गूढ अर्थ अर्थात् पारमार्थिक रहस्यका इसमें प्रतिपादन किया हुआ है। ऐसा कहकर ध्यान खींचना है कि पत्र ऊपर ऊपर से पढ लेने जैसा नहीं है। एक-एक बातमें अपने अनेक भवोंके अनुभवका निचोड एक-एक वाक्यमें दिखाया है।

‘हमने इसमें बहुत गूढ शास्त्रार्थ भी प्रतिपादित किया है। आप बारबार विचार कीजियेगा।’ एकादबार पढ लिया। शब्दार्थ और भावार्थ समझमें आ गया, इसलिए मुझे खबर है कि इस कागजमें क्या लिखा है, ऐसे इसकी पूर्णाहुति करने योग्य नहीं है। ‘कृपालुदेवके वचनोंमें इतनी ज्यादा गहराई है कि जैसे-जैसे इसका स्वाध्याय जीव करता है तो (वैसे-वैसे) मुमुक्षुजीवको नई नई गहराई हाथमें लगती है, ऐसे वचन हैं। अगर बारम्बार स्वाध्याय करे तो नई-नई गहराई हाथमें आये, ऐसे उनके पत्र हैं, ऐसे उनके वचन हैं। ‘आप बारम्बार विचार कीजियेगा योग्यता होगी तो हमारे समागममें इस बातका विस्तारसे विचार बतायेंगे।’

‘योग्यता होगी तो’ इतनी CONDITION (शर्त) रखी है अर्थात् कि प्रत्यक्ष सत्समागम हो तो उस समय तुम्हारी योग्यताका ख्याल आयेगा। यह बात करने जैसी है, तो यह बात हम विस्तारसे तुम्हें बतायेंगे कि क्या क्या कहना चाहते हैं ?

जब कोई भी ज्ञानीपुरुष किसी वचनामृतको प्रकाशित करते हैं तब उसके पीछे बहुत गहरी तथा बहुत विशाल, उनकी विचारधारा होती है। वचनामृत भले ही संक्षेपमें लिया हो, परन्तु अगर प्रत्यक्ष

योग हो तो इस पत्रकी पूर्व भूमिका (Back Ground) क्या है ? इसके पीछे उन्होंने क्या क्या विचार है ? कितनी गहराईसे उन्होंने विचार है वह योग्यता होगी तो बतायेंगे। यह भी खुदकी विचक्षणता थी। वे योग्यता देखकर ही बात करते थे, कीमती बातको जैसे-तैसे भी फेंकते नहीं थे। सामनेवालेकी योग्यताको देखकर; उसको जितनी जरूरत हो उतनी ही बात करते थे, जैसे कोई EXPERT DOCTOR (निपुण डक्टर) हो। मरीजको जब जितनी मात्रामें दवाई देना योग्य लगे उतनी ही मात्रामें वे दवाई देते थे। यह दवाई सबसे पहले लेनेकी है, वह दवाई सबसे बादमें लेनेकी है; इतनी मात्रामें लेनेकी है, इतनी बार लेनी है ऐसा 'कृपालुदेव'का था।

जो मुमुक्षु इनके समागममें आते, उसे वे बहुत अच्छी तरह माप सकते थे, ऐसा उनका गहरा और विशाल ज्ञान था। वे मुमुक्षुको माप लेते और उनकी योग्यताको देखकर; उनको जितनी जरूरत हो उतना ही (मार्गदर्शन) देते। न ही कम देते और न ही अधिक। जिससे उन्हें भी नुकसान नहीं होता और अपनी शक्तिका भी व्यय होता नहीं। कितनेही महात्मा ज्ञानी विशेष प्रज्ञावंत होते हैं और इन विशेष प्रज्ञावंत पुरुषोंमें 'कृपालुदेव'को गिन सकते हैं। सभी ज्ञानियोंको ऐसे विकल्प भी नहीं होते और ऐसा उघाड भी नहीं होता और ऐसा उदय भी नहीं होता। इसमें बहुतसे प्रकार हैं, अतः सिद्धान्त नहीं बांधा जा सकता है। जैसेकि किसी ज्ञानीको व्यक्तिगत उपदेश का उदय ही नहीं होता है और समष्टिगत उपदेशका उदय होता है; तो एक साथ सैंकडो हजारोकी संख्यामें आदमी उन ज्ञानीकी धर्मसभामें आये तब यह संभव नहीं है कि प्रत्येकके योग्य बात हो सके। वे समष्टिगत सिद्धान्तके अनुसार बात करें अथवा जो कोई शास्त्र हो अथवा जो कोई विषय हाथमें लिया हो, उसका

निरूपण करें। उसमें बात जिस जिस प्रकारकी आती है, उस-उस प्रकारकी योग्यतावाले जीव अगर स्वलक्षसे श्रवण करते हों तो ग्रहण कर ले, नहीं तो ऊपर-ऊपरसे जाए। ऊपर-ऊपरसे जाये और बहुभाग ऐसा बनता है। अतः समष्टिगत उपदेशमें यह प्रकार सम्भवित नहीं है परन्तु व्यक्तिगत रूपसे मुमुक्षुलोग उनके परिचयमें रहे और पत्रद्वारा भी परिचय रखते, परिचयको साधते थे। इस प्रकारसे उन्होंने व्यक्तिगत मार्गदर्शन अति सुन्दररूपसे दिया है। असाधारण विचक्षणतासे दिया है। यह बात समझमें आ सके ऐसी है। **‘अभी हमारे समागमका सम्भव तो नहीं है।’** आषाढ महिनामें इस पत्रको लिखा है। सामान्यतः चौमासामें स्वयं निवृत्ति लेकर बहुभाग चरोतरके विभागमें, खेडा जिलेमें, कहीं न कहीं आते थे, पधारते थे। परन्तु यह पत्र लिखा है, तब लिखते हैं अभी हालमें तो समागम तुरन्त तो सम्भव नहीं होगा **‘परन्तु शायद श्रावण वदीमें करें तो हो।’** श्रावण वदीमें अगर निवृत्तिके लिए निकलूंगा तो हो सकता है। **‘परन्तु वह कहाँ होगा उसका अभी तक विचार नहीं किया है।’** जिस प्रमाणमें खुदके विचार और परिणाम है, जैसे है वैसे ठीक-ठीक, सरलतासे लिखते हैं। स्थानका निर्णय किया नहीं।

आगे लिखते हैं **‘कलयुग है, इसलिए क्षण-भर भी वस्तु विचारके बिना नहीं रहना यह महात्माओं की शिक्षा है।’** यह काल बहुत हीन काल है। विषय कषायके संयोग फले-फूले हुए हैं असत्संगका धिराव निरन्तर मनुष्यको रहे ऐसी परिस्थिति है। और यथार्थ सत्संग का अभाव वर्तता है अथवा क्वचित् ही कभी ही किसीको प्राप्त हो, ऐसी परिस्थिति है। ऐसे **‘कलयुगमें क्षणभर भी वस्तु विचारके बिना नहीं रहना यह महात्माओं की शिक्षा है।’** थोड़े समय भी, क्षणभर भी वस्तुके विचारके बिना, आत्मकल्याणके विचार विना, स्व-

पर पदार्थ के विचार बिना, क्षणभर भी नहीं रहना, यह महात्माओंकी शिक्षा है। ज्ञानियोंने यह शिक्षा दी है, उस तत्त्व विचार, आत्म-कल्याणका विचार तो मुख्यरूपसे निरन्तर रहना चाहिए। 'आप सबको यथायोग्य पहुँचे' इस तरहसे यह पत्र (२५४) समाप्त होता है।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः



श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासणं सत्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-

२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निर्घात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत (श्रीमद राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१, २, ३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन)	२०-००

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૮ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્યપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સોગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિજ્ઞાસાસાંઘં સત્ત્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી કમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકિયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકિયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકિયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકિયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૮૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનદીપંચવિશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી કુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૮૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમસ્તિત્તું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક-ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमामगसरा (हिन्दी)	४०००

२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भात दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भात दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं काई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००

६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००

९४ अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००
९५ प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६ प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७ राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८ मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
९९ प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१०० प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१ प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२ गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३ प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४ प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५ प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६ धन्य आराधक (गुजराती)	७५०

पाठकों की नोंध के लिये

पाठकों की नोंध के लिये